हिन्दी-गद्य-निर्माता

अमरनाथ गुप्त, एम० ए०

हिन्दी-गद्य-निर्माता

लेखक
अमरनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

[मूल्य १)

भूमिका

इस पुस्तक का निर्माण हाई स्कूल कक्षाओं के स्तर में विद्यार्थियों को सरल, हृदय ग्राही और सुबोध रीति से हिन्दी गद्य में निर्माण कर्त्ताओं का संक्षिप्त वरन् पूर्ण ज्ञान कराने की दृष्टि से हुआ है। हिन्दी में यह पहली पुस्तक है, जिसमें आधुनिक तथा प्राचीन काल के प्रमुख गद्य लेखकों को सम्मिलित किया गया है। इसके गद्य लेखक दूसरी पुस्तकों के गद्य लेखकों से बहुत कुछ भिन्न मिलेंगे, यदि पुस्तक, पाठकों की रुचि के अनुसार उतरी तो लेखक अपने को धन्य समझेंगे।

—लेखक

विषय-सूची

हिन्दी गद्य-निर्माता

हिन्दी गद्य का इतिहास

१८०० ई० तक हिन्दी का साहित्य कुछ थोड़े से व्यक्तियों का साहित्य था। कुछ भक्तों का प्रभुगान, राजा-रईसों का स्तुति-गान और उनकी मनोदशाओं का चित्रण ही साहित्य में होता रहा। कहने का अर्थ यही है कि जीवन में साहित्य का स्थान छोटा था। अतः केवल पद्य रचना से ही—जिसकी रचना गद्य से अपेक्षातर कम हो सकती है—काम चल जाता था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही राजनीतिक कारणों से राजा-रईसों का समाज में प्रभुत्व घटने लगा और अंग्रेजों के संसर्ग से भारतीयों ने यह समझ लिया कि भौतिक विषयों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। इसी समय के लगभग भारत में छापेखाने के प्रचार से यह आवश्यकता भी दूर हो गई कि जो कुछ लिखा जाय, उसे कंठस्थ ही किया जाय। ईसाइयों के धर्म प्रचार, स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पाठ्य-पुस्तकों, सामूहिक जीवन के विकास के साथ ही साथ समाचारपत्रों के प्रकाशन आदि ने गद्य की उन्नति की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। साहित्य का लक्ष्य भी व्यापक होता गया और साहित्य-कार पाठकों की बड़ी से बड़ी संख्या पाकर ही अपने को कृतकार्य समझने लगे। अतः यह अनुभव भी दृढ़ होने लगा कि पद्य चाहे जितना सरल एवं सुबोध हो, वह सामान्य लोगों के द्वारा उतना ग्राह्य नहीं हो सकता, जितना की गद्य। अतः हम देखते हैं कि समस्त उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में गद्य लेखक की ही

प्रबलता रही। यदि एक ओर हम गद्य में प्रकाशित पुस्तकों को रखें और दूसरी ओर कविता की पुस्तकों को, तो हम सहज ही समझ सकेंगे कि गद्य किस गति से उन्नति कर रहा था और उसने पद्य या काव्य रचना को कोसों पीछे छोड़ दिया था। आगे चल कर जीवन की विविध आवश्यकताओं के संसर्ग में आकर और बहुत अंशों तक पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा पाकर हिन्दी में नाटकों, उपन्यासों, जीवनियों, भ्रमण वृतान्तों आदि के लिखने की प्रथा चल पड़ी और गद्य का सम्यक् विकास हुआ तथा उसमें अनेक शैलियों के दर्शन हुए।

१८०० ई० से पहले का हिन्दी गद्य जो कुछ भी मिलता है, वह व्रजभाषा में ही है। इसके पहले सामान्य रूप से हिन्दी प्रदेश की मान्य भाषा व्रज ही थी। अतः जो कुछ भी गद्य रचना हुई वह व्रजभाषा में थी। गद्य के विकास की प्रक्रिया भी यही है कि वह पहले-पहल पद्य की भाषा का ही आश्रय लेकर खड़ी होती है, और पीछे बोलचाल की भाषा से बल पाकर बढ़ती और विकसित होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व की गद्य रचनाओं में कुछ नाथ-पंथी ग्रन्थ, कुछ ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ, कुछ कृष्णकाव्य के लेखकों और आचार्यों की जीवनियाँ ही प्रमुख हैं। परन्तु इनमें गद्य का कोई व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। भाषा की अस्थि-रता तथा प्रयोगों की बहुलता स्थान स्थान पर खटकती है। हाँ, १७०० के आस पास लिखी जाने वाली 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' में व्रजभाषा गद्य का कुछ निखरा हुआ रूप अवश्य मिलता है, परन्तु गद्य की यह परम्परा आगे न चल सकी। खड़ी बोली-गद्य के आगमन के पूर्व वार्ताओं की परम्परा के स्थान पर टीकाओं और अनुवादों के रूप में जो

गद्य लिखा गया वह वार्ताओं के गद्य से भी भ्रष्ट और शिथिल है। अतः गद्य की इस परम्परा से हिन्दी के आधुनिक गद्य को कोई प्रेरणा और स्फूर्ति नहीं मिली।

अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम आज के हिन्दी गद्य के विकास-क्रम को और ही क्षेत्र में देखें। यह तो हम सभी जानते हैं कि आज का गद्य खड़ी बोली में लिखा जाता है। मुसलमानों का राज्य दिल्ली में स्थापित होने के कुछ समय के उपरान्त, इसी प्रदेश की बोली सामान्य रूप से किसी हद तक राजकार्य में व्यवहृत होने लगी। इस खड़ी बोली को अन्य प्रादेशिक बोलियों से कुछ विशेष महत्व मिलने लगा। मुसलमानों के राज्य के अन्य भारतीय भागों में फैलने पर, यह बोली भी भिन्न भिन्न भूभागों में फैली। दिल्ली के केन्द्रीय शासन के निर्बल होने या छिन्न भिन्न होने पर इस दिल्ली प्रदेश के व्यापारी, राजकीय कर्मचारी आदि दूसरे क्षेत्रों में फैले। इस प्रकार अज्ञात रूप से ही इस खड़ी बोली ने समस्त भारतीय रूप ग्रहण कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही, जब भारत में नवजीवन का शिलान्यास और विकास हुआ, तो ज्ञान के व्यापक प्रसार के लिए गद्य की आवश्यकता हुई। अतः इस बोलचाल की भाषा खड़ी बोली को ही ग्रहण कर लिया गया।

इस खड़ी बोली में गद्य रचना करने वाले प्रथम चार आचार्य इंशाउल्ला खाँ, लल्लू लाल, सदल मिश्र और सदासुखलाल थे। इंशाउल्ला खाँ, अपनी 'रानी केतकी की कहानी' तथा सदासुखलाल 'सुखसागर' के लिये प्रसिद्ध हैं। इंशा ने अपनी पुस्तक एक आग्रह और योजना के साथ लिखी थी। उनका दावा था कि उनकी पुस्तक में हिन्दी को छोड़कर एक भी शब्द अन्य किसी भाषा का न आयगा। अतः इनकी भाषा में कुछ बनावट आ गई है।

बहुत से वाक्यों में अन्त्यानुप्रास चाहे कानों को सुखद लगे, पर साथ ही कृत्रिम भी लगता है। फिर, इनकी कहानी का विषय भी गम्भीर नहीं था। फिर भी खड़ी बोली में एक बड़ी सी कहानी लिखने के लिए वे सदा स्मरण किए जायँगे; यदि हम यह ध्यान में रखें कि उनके सामने पहले नमूने कम ही थे। सदासुखलाल का 'सुखसागर' पंडिताऊपन लिए हुए है। सदल मिश्र और लल्लूलाल भी सामान्य रूप की खड़ी बोली में न लिख सके। उनकी भाषा में प्रान्तीय प्रयोग, पंडिताऊपन तथा व्रजभाषा के प्रयोग अधिक थे। ये दोनों आचार्य कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज में अंग्रेजों को हिन्दी पढ़ाने के लिये नियुक्त किये गये थे, जिससे नवागन्तुक अंग्रेज अधिकारियों को इस देश की भाषा का ज्ञान प्राप्त करने और शासन कार्य को ठीक चलाने के साधन सुगम हों। परन्तु, इनकी रचनाओं से यह कार्य न हो सका। लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' और सदलमिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' से हिन्दी गद्य के विकास में कोई उल्लेखनीय सहायता न मिली।

हिन्दी के ये ४ आचार्य उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। अतः इस शताब्दी के आगे के वर्षों में किसी प्रसिद्ध हिन्दी गद्य लेखक का नाम हमारे सामने नहीं आता। परन्तु फिर भी भाषा निर्माण का कार्य बराबर चलता रहा।

इसी समय के आस पास ईसाई प्रचारकों ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया था और उन्होंने कई ऐसी संस्थाएँ स्थापित कीं, जहाँ से प्रभूतमात्रा में ईसाई साहित्य प्रकाशित होता था। ये ईसाई धर्म-प्रचारक भली प्रकार जानते थे कि देश के एक बड़े भूभाग में किस प्रकार की भाषा बोली जाती है। अतः इन्होंने

उसी भाषा का आश्रय लिया। इनके प्रयत्नों से हिन्दी गद्य के पुष्ट होने में बड़ी सहायता मिली।

लगभग इसी समय ईस्ट इंडिया कंपनी पर देश के एक बड़े भाग का शासन-भार आ पड़ा। अतः उसे इस देश में शिक्षा की भी कुछ व्यवस्था करनी पड़ी। इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों पर पुस्तकों की आवश्यकता हुई। इसके लिये कुछ टैक्स्ट बुक सोसाइटियाँ स्थापित की गईं तथा उनके द्वारा भी हिन्दी गद्य के स्वरूप की पुष्टि तथा प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

जिस समय बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें रचने के आयोजन चल रहे थे, उसी समय हिन्दी के क्षेत्र में राजा लक्ष्मण सिंह तथा राजा शिवप्रसाद का आगमन हुआ। राजा लक्ष्मण सिंह ऐसी शैली के पक्षपाती थे जिसमें संस्कृत शब्दों की अधिकता हो और वाक्य रचना का ढंग भी बहुत कुछ संस्कृत का सा हो। राजा शिवप्रसाद इसके विपरीत थे। वे फारसी अरबी प्रधान भाषा को पसन्द करते थे। ऐसा माना जाता है कि राजा शिवप्रसाद पहले इस प्रकार की भाषा के पक्षपाती नहीं थे, परन्तु बाद को शिक्षा-विभाग से सम्बंद्ध होने के कारण और विशेष रूप से राज्य भक्ति में आस्था रखने के कारण, उन्हें उर्दू प्रधान भाषा से आसक्ति होने लगी। इधर हरिश्चन्द्र और उनके वर्ग ने राजा साहब का ज्यों ज्यों अधिक उपहास किया, त्यों त्यों उन्हें ऐसी भाषा से आग्रह अधिक होने लगा। राजा लक्ष्मणसिंह भी राजा शिवप्रसाद के इसी आग्रह के कारण दूसरी सीमा की ओर बढ़ने लगे। हिन्दी गद्य के इतिहास में इन दोनों लेखकों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसा समझा जाता है कि इन्हीं दो लेखकों ने उन शैलियों की रूप स्थापना की जो आगे चलकर हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी कहलाईं।

इसी बीच दो स्मरणीय बातें और हुईं। स्वामी दयानन्द के आर्य समाज के उत्थान से हिन्दी गद्य के स्वरूप निर्माण तथा प्रसार में बड़ी सहायता मिली। स्वामीजी शुद्ध भारतीय संस्कृति के पक्षपाती थे और उनका आग्रह इतना अधिक था कि वे हिन्दी को हिन्दी भी न कहकर आर्यभाषा कहते थे। आर्यसमाज की मान्यताओं में हिन्दी सेवा का भी एक मुख्य स्थान था। आर्य-समाज का मुख्य कार्य प्रचार था। अतः ईसाइयों की भाँति उन्होंने भी बहुत सा धार्मिक साहित्य प्रस्तुत किया, जो सबका सब गद्य में था। इसी समय के लगभग भारत में जनजागृति शीघ्रता से हो रही थी। अतः समाचार-पत्रों की संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। इन समाचार पत्रों में सभी प्रकार के विषयों पर प्रायः सभी वर्गों के पाठकों के लिये लिखा जाता था। अतः हिन्दी शैली के विविध रूपों के निर्माण में इन समाचार-पत्रों ने बड़ा योग दिया। जीवन की नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल नई नई शब्दावली भी बनने लगी और भाषा की भाव प्रकाशन शक्ति की वृद्धि के लिए सभी सम्भव उपायों से काम लिया जाने लगा। इस युग के लेखकों को यह धुन नहीं थी कि हिन्दी का स्वरूप शुद्ध हो, अपितु वे हिन्दी की शक्ति के विस्तार तथा उसे सभी प्रकार के भावों और विचारों के संवहन के योग्य बनाने में अधिक दत्तचित्त थे।

सन् १८७३ के आसपास जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपना हरिश्चन्द्र मैगजीन लेकर हिन्दी की सेवा के क्षेत्र में उतरे, तब से हिन्दी गद्य के इतिहास में एक नया ही अध्याय आरम्भ हुआ। उन्होंने तथा उनके वर्ग के सहयोगियों—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ, राधाकृष्णदास आदि ने हिन्दी गद्य की काया ही पलट दी। इनमें से प्रायः

प्रत्येक लेखक किसी न किसी पत्र का सम्पादक और स्वामी था। उस युग में सम्पादक या स्वामी बनना न गौरवप्रद था और न धनप्रद। इन्हें अपने पत्रों में सब कुछ प्रायः स्वयं ही लिखना पड़ता था और पाठक भी गिने चुने थे। अतः इस युग के लेखकों ने मनोरंजक साहित्य, निबन्ध, यात्रा, काल्पनिक वर्णनों आदि को विशेष महत्व दिया। हिन्दी गद्य में से प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग लगभग समाप्त हो गया। लेखकों में भावप्रकाशन शक्ति का विस्तार तेजी से हुआ। मूल वाक्यों के उपवाक्यों का प्रयोग भी ठीक प्रकार से होने लगा। बिराम-चिन्हों के प्रयोग का अभ्यास भी हिन्दी लेखकों को हो चला। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कर ये भाषा की शक्ति को बढ़ाने लगे। गद्य के प्रसार और विकास के लिये जैसा आवश्यक था, अन्य भाषाओं के शब्द भी लिए जाने लगे। अंग्रेजी विचार धारा को व्यक्त करने के लिए शब्दों का अर्थ विस्तार भी होने लगा।

परन्तु अभी शब्दों के रूपों में स्थिरता नहीं आई थी। एक ही शब्द कई प्रकार से लिखा जाता था। खड़ी बोली की इस काल की कविता में तो शब्दों की रूप-बहुलता और भी अधिक मिलती है। व्याकरण की दृष्टि से भी कहीं कहीं अशुद्धियाँ दिखाई देती हैं।

इसके साथ ही साथ भारतेन्दु के युग में हिन्दी गद्य अधिकतर मनोरंजक विषयों पर लिखने के लिये प्रयुक्त हुआ था। भाव-प्रधान तथा वर्णन-प्रधान शैलियाँ तो कुछ पुष्ट हो चली थीं तथा उनकी रूपरेखा भी निश्चित हो चली थी, परन्तु विचार-प्रधान शैली जहाँ गम्भीरता के साथ कुछ लिखना पड़ता है, उसका विकास नहीं हुआ था।

बीसवीं शताब्दी में आकर शिक्षा के प्रसार, राष्ट्रीयता के उदय से हिन्दी के व्यापक व्यवहार की आकांक्षा तथा पाश्चात्य ढंग के ज्ञान विज्ञान को हिन्दी में देखने की इच्छा से, अनेक प्रकार की शैलियों की उद्भावना और विस्तार हुए। बीसवीं सदी के प्रथम दो दशाब्दों में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा भाषा संस्कार का कार्य किया गया तथा उसे स्थिरता प्रदान की गई।

तृतीय दशाब्द में आकर विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी-प्रवेश तथा बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के फल-स्वरूप हिन्दी में श्रेष्ठ लेखकों और शैलीकारों की संख्या बड़ी ही शीघ्रता से बढ़ी है।

गद्य के अनेक रूपों का विकास हो गया है। परन्तु हिन्दी गद्य की विवेचना करने वाली प्रायः सभी पुस्तकों में आज के लेखकों का सम्यक विवेचन नहीं हो पाया है।

शैली क्या है

शैली का अर्थ है ढग या पद्धति। बोलचाल की सामान्य भाषा में हम भोजन की शैली, वस्त्र पहनने की शैली, जीवन की शैली आदि का प्रयोग बराबर करते रहते हैं या कर सकते हैं। इसी प्रकार किसी भी लेखक के लिखने के ढंग या पद्धति को भी शैली कहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में शैली का प्रयोग केवल एक ही अर्थ में—लिखने के ढंग के अर्थ में-किया जायगा। किसी भी लेखक की कोई रचना हमारे सामने आने पर सब से पहले उसकी शैली का ही प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। उसके भावों और विचारों से हम बाद में प्रभावित होते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को देखने पर पहले उसकी बाहरी बातें आकृति, वेषभूषा, चाल ढाल, वाणी की सुमधुरता आदि हमें आकर्षित्त करती हैं, ठीक उसी प्रकार हम पहले पहल किसी लेखक की रचना पढ़ने पर उसकी शैली से प्रभावित और आकर्षित होते हैं। इसी लिए कुछ विद्वानों ने शैली को भावों और विचारों का आच्छादन कहा है। आच्छादन का अर्थ है वस्त्र या कोई ऐसी बस्तु जो किसी को ढकने के काम में आती हो। परन्तु वस्त्र का शरीर से ऐसा सम्बन्ध होता है कि वह उतार कर अलग भी रखा जा सकता है। अर्थात् उनका अभिन्न सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत लेखक की शैली उसके विचारों और भावों से अलग नहीं की जा सकती। उसका अभिन्न सम्बन्ध होता है।

इसलिए कुछ विद्वान् शैली को विचारों और भावों का आच्छादन कहना ठीक नहीं समझते।

कुछ लोग शैली को भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ ऐसी बातें रहती हैं जो उसे दूसरे मनुष्य से पृथक् करती हैं। उदाहरण के लिए रात के अन्धकार में किसी मनुष्य को न देख सकने पर भी जब हम उसका शब्द सुनते हैं तो शब्द मात्र से ही हम उसे पहचान लेते हैं। यद्यपि हम सब प्रायः एक ही प्रकार से बोलते हैं, फिर भी हमारा शब्दोच्चारण कुछ इस प्रकार का होता है कि उसमें हमारी कुछ निजी विशेषता रहती है। इसी प्रकार यह माना जाता है कि भाषा लिखने का ढंग भी प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग होता है और यदि हममें परखने की शक्ति हो तो हम किसी लेखक की रचना पढ़कर तुरन्त यह पता लगा लेते हैं कि वह किस प्रकार का मनुष्य है।

भाषा के प्रयोग में यह विशेषता थोड़ी बहुत तो सभी में रहती है परन्तु महान् लेखकों की रचनाओं में यह विशेष रूप से पाई जाती है। ऐसे लेखकों की रचनाओं को पढ़कर वे हमारे जाने-पहचाने से हो जाते हैं। हम उन्हें प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगते हैं। गुरुजनों की भाँति हमारी इच्छा उनका अनुकरण करने की होती है। जब हममें ऐसी बुद्धि जग जाय तभी यह समझना चाहिए कि हमने किसी लेखक की शैली का भली प्रकार अध्ययन किया है और उसे समझा है।

भ्रमवश कुछ लोग यह मानते हैं कि किसी भी लेखक की किसी भी रचना को सामने रखकर उसकी शैली का अध्ययन

किया जा सकता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। शैली के अध्ययन के लिए काव्य, नाटक, उपन्यास आदि उपयुक्त नहीं रहते। काव्य की रचना करते समय लेखक को छन्द के बन्धनों से बँधकर चलना पड़ता है और वह स्वतन्त्र रूप से स्वरुचि के अनुसार भाषा का प्रयोग नहीं कर पाता। नाटक और उपन्यासों में लेखक को अनेक पात्रों के माध्यम से बोलना पड़ता है। वह पात्रों की दशा और स्थिति के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग करता है। अतः नाटक और उपन्यास के लेखक को भाषा के प्रयोग में पूरी स्वतन्त्रता नहीं रहती।

शैली को समझने और जानने के लिए निबन्ध, जीवनियाँ, यात्रा-वर्णन आदि ही श्रेष्ठ साधन हैं। इन्हें लिखते समय लेखक पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल, पद्म सिंह शर्मा, श्यामसुन्दर दास आदि अपने निबन्धों के लिए ही प्रसिद्ध हैं।

किसी भी लेखक के लिए उसकी शैली का विशेष महत्व होता है। उसके जो भाव और विचार होते हैं, उनमें नवीनता और मौलिकता हो सकती है, परन्तु उसकी कुशलता तथा सफलता बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर रहती है कि वह उन भावों और विचारों को किस रूप में पाठकों के सामने रखता है। हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध लेखकों—प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट ने हमें कोई बहुत नवीन और मौलिक विचार नहीं दिए हैं, उन्होंने बहुत ही सामान्य विषयों पर लिखा है और उनके सम्बन्ध में हमें वे ही विचार दिए हैं जो प्रायः हम सभी के मस्तिष्क में आते हैं या आ सकते हैं। परन्तु उन्होंने उन विचारों को इस रूप में रखा है कि हम

सहसा आकर्षित हो जाते हैं और मुँह से यही निकलता है "यदि मैं भी इसी प्रकार लिख सकता।"

जिस प्रकार मनुष्य, उनकी वेषभूषा तथा खानपान अनेक ढंग के होते हैं, उसी प्रकार शैलियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। फिर भी मोटे रूप से उनके तीन भेद किए गए हैं—(१) विचार-प्रधान (२) भाव-प्रधान, तथा (३) वर्णन-प्रधान।

विचार-प्रधान—

इस शैली का मुख्य लक्षण यह होता है कि यहाँ लेखक किसी विषय पर कुछ सोचता सा दिखाई पड़ता है। किसी भी विषय या वस्तु पर अनेक लेखकों के अनेक विचार हो सकते हैं। अतः इस शैली में लेखक के व्यक्तित्व की विशेष छाप होती है। वह अपनी विचार धारा के अनुसार अपनी शैली को कोई भी रूप दे सकता है। कभी कभी विषय के बहुत ही गूढ़ होने से लेखक धीरे धीरे गम्भीरतापूर्वक कुछ सोचता चलता है और उन्हें लिखता रहता है। इस अवस्था में वाक्य प्रायः छोटे छोटे होते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि लेखक किसी विचार को तर्क बितर्क सहित उपस्थित करता है और मूल वाक्य में अपने विचार को रखकर अनेक उपवाक्यों या वाक्यांशों द्वारा उसकी पुष्टि या स्थापना करता है। ऐसी अवस्था में वाक्य प्रायः लम्बे एवं दुरुह हो जाते हैं। विचार-प्रधान शैली को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का चिन्तन कितना स्पष्ट या अस्पष्ट है। इस प्रकार विचार-प्रधान शैली लेखक के व्यक्तित्व का पूरा पता दे देती है। हमें उसकी रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा का पूरा पूरा ज्ञान हो जाता है।

बिचार-प्रधान शैली के लेखकों का ध्यान अपने पाठकों की ओर अपेक्षातर कम रहता है। जैसे हम कभी कभी शान्त

बैठकर अपने मन में कुछ सोचने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि हमें यह ध्यान ही नहीं रहता कि हमारे सामने कौन बैठा या खड़ा है, इसी प्रकार कभी लेखक इतने विचार मग्न हो जाते हैं कि उन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि वे पाठकों के लिए और फिर किस प्रकार के पाठकों के लिए लिख रहे हैं। परन्तु विद्यार्थियों आदि के लिए लिखने वाले लेखकों में यह बात नहीं पाई जाती। वे तो बड़े सचेष्ट और सावधान होकर लिखते हैं और शैली के विचार-प्रधान होने पर भी सरल और सुबोध बनाने की बराबर चेष्टा करते रहते हैं।

विचार-प्रधान शैली के कुछ उदाहरण दे देना भी असंगत न होगा। इससे यह सरलता से पहचानी जा सकेगी कि विचार प्रधान शैली किस प्रकार की होती है।

"श्रद्धा का मूल तत्व है दूसरे का महत्व स्वीकार। अतः जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनकी इतनी समाई नहीं कि वे श्रद्धा-ऐसे पवित्र भाव को धारण करे।"

'पं० रामचन्द्र शुक्ल'

"तांत्रिक धर्म का प्रभाव पूरब की ओर विशेष रूप से था। बंगाल में शक्ति की उपासना का प्रादुर्भाव इसी के परिणाम स्वरूप था। आगे चलकर वैष्णवों की 'राधा' की उपासना पर भी इस तांत्रिक धर्म का प्रभाव पड़ा।"

'डा० धीरेन्द्र वर्मा'

भाव-प्रधान—

भाव-प्रधान शैली प्रायः उस स्थान पर होती है जहाँ लेखक जिस किसी वस्तु का वर्णन करता हुआ, उसके सम्बन्ध में ऐसी बातें लिखता है जिनकी उत्पत्ति उस पर पड़े हुए प्रभाव से

होती है। उदाहरण के लिए कोई लेखक 'गाय' के सम्बन्ध में कुछ लिखने बैठने पर जब उसके रंग, रूप, आकृति आदि पर ऐसी बातें नहीं लिखता जो सभी के अनुभव में आती हैं, परन्तु वह यह बताने की चेष्टा करता है कि गाय के सफेद रंग या भोली आकृति को देखकर उसके मन में क्या क्या भाव आते हैं। इस प्रकार की शैली में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी बहुत होता है। भाव-प्रधान शैली में वाक्य प्रायः लम्बे लम्बे होते हैं, हृदय का आवेश उमड़ा पड़ता है। इस प्रकार की शैली में लिखे किसी भी निबन्ध या रचना को पढ़कर हमारी यह इच्छा होती है कि हम उसे बार बार पढें। परन्तु ऐसी शैली में लिखे निबन्धों को पढ़कर प्रायः न तो हमारे ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि होती है और न विषय का स्वरूप ही हमें अधिक स्पष्ट होता है। इस प्रकार की शैली में प्रवाह अधिक होता है। हिन्दी में श्री माखन लाल चतुर्वेदी तथा श्री वियोगी हरि भाव-प्रधान शैली में लिखने वालों में प्रमुख हैं।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ विचार-प्रधान लेखक भी अपने गम्भीर निबन्धों में यत्र तत्र भाव-प्रधान-शैली का आश्रय ले लेते हैं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने, जो प्रायः विचार-प्रधान शैली में लिखते थे—कहीं कहीं भाव-प्रधान शैली को अपनाया है।

भाव-प्रधान-शैली के दो एक उदाहरण दे देना भी ठीक होगा, जिससे विषय का बोध ठीक ठीक हो सके।

(१) "कौन सा आकार है ? तुम मानव हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो ! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ। तुम अनन्त 'जाग्रत' आत्माओं के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो ! मेरी काली कलम का बल, समेटे नहीं सिमटता।

तुम, कल्पनाओं के मंदिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्त बिन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तस्वीर खींच मैं!''

'पं० माखन लाल चतुर्वेदी'

(२) "दूध से सफ़ेद बाल और दूध फेनी सी सफ़ेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो रहा था। कभी की सतेज आँखें आज ऐसी लग रही थीं मानों किसी ने चमकीले दर्पण पर फूंक मार दी हो।"

'महादेवी वर्मा'

वर्णनात्मक शैली—

आजकल के युग में इस प्रकार की शैली का प्रचार बढ़ रहा है। इस शैली का उपयोग विज्ञान आदि विषयों के प्रतिपादन में अधिक होता है। जहाँ लेखक का उद्देश्य सीधे सादे शब्दों में किसी तथ्य को बता देना मात्र होता है। इस प्रकार की शैली में न तो लेखक का अपना कोई चिन्तन होता है और न किसी प्रकार की अपनी भावनाएँ। उसने जो कुछ जैसा देखा या पढ़ा है, उसको एक क्रमबद्ध रूप में सजा देना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। वाक्य प्रायः छोटे छोटे होते हैं जिससे विषय अधिक स्पष्ट होता चले। ऐसे लेखों में लेखक की व्यक्तिगत विशेषताओं का आभास भी बहुत ही कम मिलता है।

वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादन के साथ ही साथ इस प्रकार की वर्णन-प्रधान शैली का प्रयोग उपन्यासों आदि में भी ऐसे स्थानों पर मिल रहा है जहाँ लेखक अपनी ओर से ही कुछ लिखना चाहता है। वर्णन-प्रधान शैली को समझने के लिए भी कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा।

(१) "आधुनिक काल में भारतवर्ष की राज भाषा अँग्रेजी है। मुगल काल में फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अँग्रेजी कभी भी राष्ट्र भाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राज भाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्र भाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है।"

'डा० धीरेन्द्र वर्मा'

(२) "भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता; और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है। आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन।"

'प्रेमचंद्र'

शैली की निरूपण-पद्धति

शैली क्या है, उसका महत्व क्या है तथा वह सामान्यतः कितने प्रकार की होती है, यह समझ लेने के उपरान्त थोड़ा इस बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि किसी लेखक की शैली को परखते समय हमें किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। शैली को परखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों के हाथों में कुछ ऐसे सिद्धान्त रहें जिनका उपयोग वे सरलता और सुलभता से कर सकें। इसलिए कुछ नियम नीचे दिए जाते हैं।

(१) आजकल हमारे देश में भाषा का प्रश्न बड़ा जटिल है। कुछ लोग ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रधानता रहती है। संस्कृत के लिए उनका आग्रह इतना अधिक होता है कि वे बोलचाल के सामान्य शब्दों को भी पसन्द नहीं करते। विद्यार्थियों ने प्रायः देखा होगा कि उनके बहुत से हिन्दी अध्यापकों की यह प्रवृत्ति होती है कि बालकों के निबन्धों में जहाँ कहीं भी कोई बोलचाल का शब्द आ जाता है तो वे उसे काट कर उसके स्थान पर संस्कृत का शब्द रख दिया करते हैं। यही प्रवृत्ति बहुत से लेखकों में भी पाई जाती है। अतः किसी भी लेखक की रचना का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को यह देख लेना चाहिए कि उसका झुकाव किस प्रकार की भाषा लिखने की ओर है।

भाषा सम्बन्धी यह झुकाव जानने के लिए यह अच्छा

होगा कि आप लेखक के लेख में से किसी संस्कृत शब्द को हटा कर उसके स्थान पर कोई बोलचाल का शब्द रख दें। यदि आपको ऐसा अनुभव हो कि बोलचाल का शब्द अधिक उपयुक्त दिखाई पड़ता है तो जान लीजिए कि लेखक ने संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग आग्रहवश किया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि आपको संस्कृत का शब्द ही अधिक उपयुक्त दिखाई पड़े तो समझ लीजिए कि संस्कृत शब्दों के अधिक प्रयोग में कुछ सार्थकता है। इस प्रकार आप किसी भी लेखक के भाषा सम्बन्धी विचारों का कुछ पता चला सकेंगे।

(२) शैली के निरूपण में दूसरी बात यह देखने की होती है कि लेखक का भाषा पर कहाँ तक अधिकार है। उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द को ले लीजिए। कुछ लेखक अपनी सारी रचना में केवल इसी शब्द का प्रयोग करते हुए पाए जायँगे; इसके विपरीत कुछ लेखक ऐसे भी मिलेंगे जो 'कमल' के पर्याय-वाची या समानार्थी अनेक शब्दों का अपनी रचनाओं में प्रयोग करते मिलेंगे। इस प्रकार एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाचियों का प्रयोग करते देखकर हम किसी लेखक के सम्बन्ध में अवश्य ही यह कह सकेंगे कि भाषा पर उसका कुछ विस्तृत अधिकार है। पर; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमें केवल पर्यायवाचियों का प्रयोग तमाशे के लिए नहीं करना चाहिए। ज्ञान के प्रदर्शनमात्र के लिए पर्यायवाचियों का प्रयोग न हो अपितु आवश्यकता के अनुसार ही होना चाहिए।

(३) किसी भी अच्छे लेखक का भाषा पर अधिकार इस बात से ही ज्ञात नहीं होता कि उसने कितने शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु भाषा का सच्चा अधिकार तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'भिक्षुक ने रोटी के

लिए अपने भूखे हाथ उठा दिये' हम सभी जानते हैं कि भूख हाथों को नहीं लगती। पर 'भूखे हाथ' कहने से भोजन के लिए भिक्षुक की उत्सुकता और उतावलेपन का हमें पूरा पूरा ज्ञान हो जाता है। अच्छे लाक्षणिक प्रयोग किसी भी भाषा में जान डाल देते हैं और उसकी भाव-प्रकाशन शक्ति को कई गुना बढ़ा देते हैं। भाषा की सच्ची परख और लोक जीवन के व्यापक अनुभव से ही इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों की शक्ति और क्षमता आती है। कोई भी विदेशी या अनुभवहीन लेखक थोड़े से ही अभ्यास से किसी भाषा को लिख सकता है, पर जिस लेखक को लाक्षणिक प्रयोगों की शक्ति प्राप्त हो जाती है, उसे ही उस भाषा का सच्चा और अधिकारी लेखक समझना चाहिए।

(४) कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ लेखक पर्यायवाची या लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को साथ साथ प्रयुक्त किया करते हैं। ऐसे प्रयोगों को बड़ी ही सावधानी से परखना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी ने लिखा 'यह बात बड़ी सचेष्टता और सावधानी से सुनो' यहाँ 'सचेष्टता' और 'सावधानी' प्रायः समानार्थी हैं। एक साथ ही दोनों शब्दों का प्रयोग कर लेखक न तो अपने शब्द ज्ञान का परिचय देना चाहता है और न वह दो शब्दों का प्रयोग कर व्यर्थ का विस्तार ही करना चाहता है। उसका उद्देश्य तो केवल यही है कि सुनने का कार्य बहुत ही अच्छे प्रकार किया जाय। परन्तु एक दूसरा वाक्य लीजिए 'रीतिकाल की कविता सालंकार तथा साभरण है' यहाँ भी सालंकार तथा साभरण पर्यायवाची हैं। परन्तु इन दोनों शब्दों के साथ ही प्रयोग करने से अर्थ की स्पष्टता नहीं बढ़ती। अधिक से अधिक लेखक के

शब्द ज्ञान का या उसकी आडम्बर प्रियता का ही परिचय मिलता है। अतः किसी भी लेखक की शैली को परखते समय ऐसे प्रयोगों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(५) शैली के विवेचन में महावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग का भी एक विशेष स्थान है। हिन्दी के कुछ पुराने लेखकों ने—जैसे प्रतापनारायण मिश्र ने तो अपने बहुत से लेखों में केवल लोकोक्तियों की ही घटा दिखाई है। लोकोक्तियाँ वास्तव में किसी अर्थ को प्रकट करने के लिए बँधे बँधाए परम्परागत प्रयोग है। उनके प्रयोग से अवश्य ही भाषा में कुछ बल आ जाता है। लोक की सामान्य बोलचाल की भाषा में लोकोक्तियाँ प्रायः अधिक रहती हैं। अतः सरल और सुपाठ्य विषयों पर लिखते समय भाषा में अवश्य ही एक सौन्दर्य आ जाता है और उसकी व्यंजना शक्ति भी बढ़ जाती है। कभी कभी यह भी देखा जाता है कि एक पूरे वाक्य से जितनी भाव-व्यंजना नहीं हो पाती, जितनी एक अच्छी लोकोक्ति से हो जाती है। भाव प्रधान एवं वर्णन-प्रधान शैली में प्रायः लोकोक्तियों का प्रयोग अधिक पाया जाता है।

(६) अच्छी गद्य रचनाओं में थोड़ा बहुत उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का भी थोड़ा बहुत प्रयोग होता ही है। इन्हीं के प्रयोग से भाषा में कुछ सरसता आ जाती है। शुद्ध वैज्ञानिक विषयों पर लिखे गए लेखों की तो बात नहीं कहते, पर साहित्य-कोटि में आने वाले लेखों और निबन्धों में इस प्रकार के अलंकारों—विशेषकर तुलना मूलक अलंकारों को उचित प्रयोग बहुत ही लाभदायक होता है। महादेवी वर्मा नें अपने लेखों में इस प्रकार के अलंकारों का प्रयोग अच्छा किया है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा।

'रात की गहरी निस्पन्द नींद से जागे हुए वृक्षों के दीर्घ निश्वास के समान समीर बह रही है।'

'स्मृति की रेखाएँ'

'सवेरे कुछ मेघ खंड आकाश में एकत्र हो गए थे पर सन्ध्या की सुनहली आभा के खर प्रवाह में वे धारा में पड़े नीले कमलों के समान बह कर किसी अज्ञात कूल से जा लगे।'

'स्मृति की रेखाएँ'

शैली के विवेचन में वचन-वक्रता का भी एक विशेष स्थान है। सामान्य लेखक जिस तथ्य को सीधे सादे शब्दों में कह देता है, कुशल साहित्यिक उसे ही कुछ घुमा फिरा कर ऐसे शब्दों में कहता है कि उसका प्रभाव हमारे हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता। शैली के इस गुण के कारण सामान्य विषयों में भी एक रस और रोचकता उत्पन्न हो जाते हैं। भारतेन्दु काल के हिन्दी गद्य लेखकों में शैली की यह वक्रता बहुत अधिक मिलती है। कारण यह है कि उस काल के लेखकों को अपने विषयों को रोचक बनाकर पाठकों की संख्या बढ़ानी थी, जिससे हिन्दी प्रचार में सहायता मिले। हिन्दी के वर्तमान लेखकों में महादेवी वर्मा के लेखों में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है। 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' नामक पुस्तकों में यह वचन-वक्रता कहीं कहीं बहुत ही सुन्दर रूप में देखने को मिलती है। देखिए महादेवी वर्मा ने एक सामान्य तथ्य को कितनी वचन वक्रता तथा व्यंग्यपूर्ण शैली में लिखा है।

'जिस लड़के का पुरुषार्थ ऐसी परिश्रमी और सुशील वधु खरीद लाया है, उसे नालायक मानना भी घोर अन्याय है। स्त्री की प्राप्ति और सन्तान

की सृष्टि ही पुरुष की लियाकत का लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँच जाने वाला पुरुष और अधिक योग्यता का बोझ व्यर्थ ही क्यों ढोता फिरे।'

'स्मृति की रेखाएँ'

अन्यत्र,

'कुछ प्राचीनतावादियों की कभी निर्निमेष खुली आँखें और कभी मिलित पलकें प्रकट करती थीं कि काव्यरस में विश्वास न होने के कारण उन्हें विजया से सहायता माँगनी पड़ी है।'

वचन वक्रता के साथ ही साथ शैली में प्रवाह की भी आवश्यकता पड़ती है। शैली में प्रवाह से यह अभिप्राय है कि वाक्यों में शब्दों की योजना इस प्रकार से हो कि उन्हें पढ़ते समय एक हल्की सी लय उत्पन्न हो जाय। यह प्रवाह एक अनुभव की ही वस्तु है, उसे एक परिभाषा में बाँधना कठिन ही है। इस प्रवाह को यों भी समझाया जा सकता है कि वाक्य में शब्दों की ध्वनियाँ कुछ इस प्रकार की हों, कि उनके उच्चारण में मुख को समान आयास या प्रयत्न करना पड़े। दो एक उदाहरण दे देने से शैली का यह गुण अधिक सुबोध और सरल हो जायगा। 'राम ने कहा सवेरा हो गया' तथा 'राम ने कहा सोमवार आज ही है' वाक्यों में पहले में हमें प्रवाह अधिक मिलता है। दूसरे वाक्य में 'सोमवार' के उच्चारण में यह प्रवाह कुछ टूटता सा दिखाई पड़ता है।

शैली में प्रवाह गुण का एक उदाहरण स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की 'सुजान-भगत' नामक कहानी से लीजिए।

'घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठतले एक बूँद भी जाने की कसम थी; कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग।'

उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त शैली में प्रसाद, माधुर्य, प्रांजलता आदि गुण भी माने गए हैं। प्रसाद गुण की स्थिति वहाँ होती है जहाँ अर्थ को समझने के लिए किसी शब्द की कठिनाई से कोई बाधा नहीं पड़ती। भाषा इस प्रकार की होती है कि वह भाव और विचारों के वहन में पूरी पूरी समर्थ होती है और कभी भी किसी शब्द पर रुक कर पाठक को यह विचारना नहीं पड़ता कि अमुक शब्द के क्या अर्थ हैं और उस अर्थ में शब्द की पूरी पूरी व्याप्ति है भी या नहीं। भाषा की प्राजंलता से भी यही अर्थ होता है कि अर्थ शब्दों के बोझ से दब न जायँ। कारण कि शब्द अर्थों को वहन करते हैं। शब्द और अर्थ एक दूसरे पर टिके होते हैं। जहाँ कहीं बड़े बड़े शब्दों का बाहुल्य होता है और अर्थ गौण हो जाता है, वहाँ भाषा की प्राजंलता नहीं रहती।

शैली के विवेचन में वाक्यों की बनावट का भी एक विशेष स्थान है। कुछ लेखक छोटे छोटे वाक्य लिखते हैं, जो स्वतः पूर्ण होते हैं और उनके साथ अन्य उपवाक्य जुड़े नहीं रहते। इसके विपरीत कुछ लेखक उपवाक्यों से संयुक्त लम्बे लम्बे वाक्य लिखा करते हैं। वाक्यों की रचना किसी अंश में तो विषय की दृष्टि से होती है और कभी कभी लेखक की रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार। कुछ लोगों का विचार है कि लम्बे वाक्यों की रचना में समर्थ हो सकना किसी लेखक के लिए गौरव की बात है। पर बात ऐसी नहीं है। प्रायः भाव-प्रधान और वर्णन-प्रधान शैली में लिखे गए निबन्धों में वाक्य लम्बे रहते हैं। विचार-प्रधान शैली में वाक्य छोटे होते हैं। लम्बे वाक्य लिखते समय लेखक को अपनी रचना में एक विशेष सतर्कता रखनी होती है।

उसे यह देखना होता है कि समस्त वाक्यांशों या उपवाक्यों की स्थापना ठीक ठीक हो भी गई है अथवा नहीं ।

लम्बे वाक्यों के लेखन के साथ ही साथ विराम चिन्हों के उचित प्रयोग की भी समस्या उठ खड़ी होती है। छोटे छोटे वाक्य लिखने वालों का काम तो पूर्ण विराम चिन्ह से ही चल जाता है। पूर्ण विराम चिन्ह का प्रयोग तो संस्कृत में भी पाया जाता था, अतः हमारे हिन्दी लेखक उस चिन्ह के प्रयोग से सामान्यतः परिचित हैं। परन्तु जहाँ वाक्य अनेक उपवाक्यों से संयुक्त होता है और जहाँ अर्ध विरामादि अनेक चिन्हों के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ विराम चिन्हों से सुपरिचित लेखक ही उनका प्रयोग साधु रीति से कर सकता है। आचार्य शुक्ल और डा० धीरेन्द्र वर्मा ने विराम चिन्हों के प्रयोग बड़ी ही सावधानी और सतर्कता से किए हैं।

———

शैली विश्लेषण के कुछ उदाहरण

शैली के स्वरूप, उसकी विशेष विशेषताओं तथा हिन्दी गद्य के विवेचन के उपरान्त, थोड़ा यह देख लेना भी आवश्यक है कि शैली का विश्लेषण किस प्रकार करना चाहिये। इसके लिए कुछ प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं से कुछ उदाहरण तथा उनका शैली विषयक विश्लेषण देना लाभदायक होगा।

"हम लोगों के जगत् के ग्रह मात्र जो सब प्रत्येक ब्रह्माण्ड हैं इन्हीं की आकर्षण शक्ति से स्थिर हैं, इसी से नारायण का नाम अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक है। इसी सूर्य का वेद में नाम विष्णु है, क्योंकि इन्हीं की व्यापकता से जगत् स्थित है। इसी से आर्यों में सबसे प्राचीन एक ही देवता थे और इसी से उस काल के भी आर्य वैष्णव थे। कालान्तर में सूर्य में चतुर्भुज देव की कल्पना हुई।"

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'

इस गद्य खंड को हम विचार-प्रधान शैली का उदाहरण कहेंगे। इस गद्य खंड में लेखक ने तर्क वितर्क के द्वारा यह सिद्ध किया है कि विष्णु देवता का प्राचीन स्वरूप क्या था, उनका रूप विकास किस प्रकार हुआ तथा हम लोग किस प्रकार वैष्णव हैं। इसमें लेखक के अपने निष्कर्ष हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हम सभी उनके विचारों से सहमत हों।

लेखक ने संस्कृत प्रधान भाषा का ही प्रयोग किया है। परन्तु विषय धार्मिक है। अतः ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

इस गद्य खंड में दो स्थानों पर 'इसी से' वाक्य आरम्भ हुए हैं। पहले स्थान पर लेखक ने 'इसी से' के पहले अर्ध विराम का प्रयोग किया है, दूसरे स्थान पर पूर्ण विराम का। अतः विराम-चिन्हों के प्रयोग में सावधानी और सतर्कता नहीं है।

वाक्य छोटे छोटे लिखे गए हैं जिससे प्रतीत होता है कि लेखक किसी भावावेश में न लिखकर, बहुत ही गंभीरता से लिख रहा है। वह युक्तियाँ देकर अपने सिद्धान्त की स्थापना कर रहा है।

"ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी सम्पत्ति हैं। इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अन्तर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराज रासो भी एक विशाल काव्य-ग्रन्थ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की प्रधानता है; पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव प्राप्त नहीं हो सकता।"

'श्यामसुन्दर दास'

यह गद्य-खंड साहित्य की आलोचना का एक उदाहरण है। ऐसे विषयों का प्रवेश हिन्दी में पाश्चात्य संसर्ग से हुआ है। अतः 'स्थायी सम्पत्ति', 'जातीय सभ्यता' 'साम्य के आधार पर' आदि प्रयोग अंग्रेजी प्रयोगों की छाया है। प्रतापनारायण या बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में इस प्रकार के प्रयोगों का मिलना दुर्लभ है।

महाकाव्य में किस बात की प्रधानता होनी चाहिए, युद्ध का महाकाव्य में क्या स्थान है, 'स्थायी सम्पति' क्या होती है, 'सभ्यता तथा संस्कृति' क्या है, और उनका क्या सार है आदि बातों पर पाठक को रुक कर कुछ सोचना पड़ता है।

विचार-प्रधान होने के कारण वाक्य बहुत ही छोटे हैं तथा विराम चिन्हों का प्रयोग बड़ी ही सावधानी से हुआ है।

इस गद्य खंड में एक जिज्ञासा उद्रेक करने की भी शक्ति है। लेखक का यह कहना कि 'इतने ही साम्य के आधार पर' से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि फिर महाकाव्य में और किन किन गुणों का होना आवश्यक है।

भाषा संस्कृत प्रधान है। इस विषय में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बाबू साहब शुद्ध भाषा के ही पक्षपाती थे। उनका विचार था कि खिचड़ी भाषा से विचारों की गम्भीरता को ठेस पहुँचती है और हिन्दी भाषा की शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

इस गद्य खंड में यद्यपि किसी उपमा या उत्प्रेक्षा का प्रयोग नहीं किया गया है। परन्तु इस लेखक ने जहाँ कहीं उनका प्रयोग किया भी है वहाँ केवल विषय के स्पष्टीकरण के लिए। उसे अलंकृत करने के लिये नहीं।

"जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिये अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जावेगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ा रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराए देश का शोषण करना बुरा नहीं है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़ा रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देश वासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गई हैं।"

'सम्पूर्णानन्द'

यह गद्य खंड उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री और प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री सम्पूर्णानन्द का लिखा है। इसमें विचार-प्रधान शैली के दर्शन होते हैं।

उपयोगिता, शोषण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार आदि विषयों की ओर संकेत कर लेखक ने हमारे सामने कुछ ठोस विचार रखे हैं।

वैयक्तिक और सामूहिक जीवन, प्रतीयमान उपयोगिता आदि शब्दों के प्रयोग से लेखक के अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का स्पष्ट पता चलता है।

लेखक कौटुम्बिक जीवन, देश जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सत्य, न्याय, समानता आदि गुणों को एक सा महत्व देकर यह सिद्ध करना चाहता है कि वह गाँधीवाद से पूरा प्रभावित है और उसकी दृष्टि ऊँचे आदर्शों की ओर लगी है।

अर्धविराम, पूर्णविराम और संयोजक रेखा आदि विराम चिन्हों के प्रयोग से लेखक ने अपनी सतर्कता दिखाई है। विशेषण और क्रिया विशेषण उपवाक्यों आदि का अधिक प्रयोग न कर लेखक ने श्लिष्ट वाक्य-रचना नहीं की है। विषय की गम्भीरता को समझते हुए उसने लेखन शैली को यथा सम्भव सरल बनाया है। यद्यपि लेखक गाँधीवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हैं परन्तु फिर भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का गहरा अभ्यास करने के कारण, उसकी शैली पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है। वे खिचड़ी भाषा के समर्थक नहीं हैं।

"हमारे अंतः करण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँख मूँदे हुए संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुये संसार का कुछ अंश सामने रख कर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के

संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं; श्रद्धा में तीन।"

'रामचन्द्रशुक्ल'

यह गद्य खण्ड पं रामचन्द्र शुक्ल का लिखा है। शुक्ल जी अपनी विचारात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। वे प्रायः समास शैली में लिखते हैं, जिसका अभिप्राय है कि थोड़े से शब्दों में बहुत सा अर्थ भरा रहता है। 'रूप का 'संघटन' 'कर्म-तंतु के उपादान' आदि प्रयोगों से यह बात भली प्रकार समझी जा सकती है। साथ ही कर्म तंतु एवं उपादान आदि शब्दों में अँग्रेजी प्रयोगों की छाया भी है। जिस प्रकार अँग्रेजी के कुछ प्रसिद्ध निबन्धकारों के लेखों में कहीं कहीं ऐसे सूक्ति-वाक्य आ जाते हैं, जिनमें निहित भावों और विचारों को बढ़ाकर एक पूरा निबन्ध ही लिखा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार इनके इस गद्य-खण्ड में भी 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है'।

अपने विषय की गम्भीरता के कारण लेखक को तत्सम पदावली का ही आश्रय लेना पड़ा है। पूर्ण विराम, अर्ध विराम तथा संयोजक रेखा का प्रयोग भी बड़ी सावधानी से किया गया है। शब्द इतने नपे तुले रखे गए हैं कि कहीं से एक शब्द भी उठाकर दूसरा शब्द रखते नहीं बनता। अन्त में लेखक का यह कहना 'प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन' प्रेम और श्रद्धा के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। यदि हम केवल इस वाक्य को अपनी स्मृति में रखें, तो ऊपर का सारा विवेचन सदा के लिए हमें स्मरण रहेगा।

"परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र! बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार, तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से

छनकर, धमनियों में छोड़ने वाले रक्त की दौड़ हो; और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वंशी की धुन हो; धुन वह, जो 'गो-कुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैगंबरों का पैगाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूक्ष्म के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे!"

'माखन लाल चतुर्वेदी'

यह गद्य-खंड पं० माखन लाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' नामक पाठ में से लिया गया है, और भावात्मक विक्षेप शैली का अच्छा उदाहरण है।

इसमें एक प्रकार से 'साहित्य' पर एक कविता सी लिखी गई है। साहित्य का क्या स्वरूप है, इसकी उपयोगिता क्या है, वह हमारे जीवन में किस प्रकार लाभदायक है आदि प्रश्नों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। साहित्य के प्रति पूज्य बुद्धि से प्रेरित होकर, उसे एक देवता मानकर, लेखक भाव-तरंग में आगे बढ़ता गया है।

साहित्य पर लेखक ने जो कुछ भी लिखा है, वह इतना व्यक्तिगत है, कि साहित्य के सम्बन्ध में लोकगत मान्यताओं के समीप वह आता ही नहीं। अतः लेखक और पाठक के बीच कोई सामान्य भाव-भूमि या विचार-भूमि रह ही नहीं जाती। इसीलिए इसमें व्यक्त भाव न तो पाठक को स्पष्ट होते हैं और न वे उसे स्मरण ही रह सकते हैं।

साहित्य के सम्बन्ध में इसमें अनेक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का भी घटाटोप है। रक्त की दौड़, रक्त-तर्पण, वंशी की धुन, पुल, राग, पैगाम, आन आदि अनेक उपमाओं का लेखक ने प्रयोग किया है। सिपहसालार तथा आह के पश्चात् अर्ध विराम का चिन्ह भी ठीक नहीं है। भाषा मिलीजुली है।

"एक उदासीन कंठ से 'आइये' में निकट आने का निमंत्रण पाकर मैंने अभ्यर्थना करने वाली की ओर ध्यान से देखा। वृद्ध से उसकी मुखाकृति इतनी मिलती थी कि आश्चर्य होता था। वही मुख की गठन, उसी प्रकार के चमकीले पर धुँधले नेत्र और वैसे ही काँपते-से ओठ रूखे बाल और मलिन वस्त्रों में उसकी कठोरता वैसे ही दयनीय जान पड़ती थी जैसी जमीन में बहुत दिन गड़ी रहने के उपरान्त खोद कर निकाली हुई तलवार।"

'महादेवी वर्मा'

यह गद्य-खंड सुश्री महादेवी की पुस्तक स्मृति की रेखाएँ से लिया गया है। जिस प्रकार अपनी कविता में वे एक-एक शब्द को सजाकर रखता हैं, ठीक इसी प्रकार गद्य में भी। लेखिका को जो कुछ कहना है वह थोड़ा ही है, परन्तु उसने जो कुछ कहा है, ऐसे ढंग से कहा है कि छोटी छोटी बातों को भी उसने चित्रमय बना दिया है। 'आइये' में किस भाव की अभिव्यक्ति होती थी, यह बताना लेखिका भूली नहीं है; यद्यपि हम सभी इस शब्द से परिचित हैं। मुखाकृति का वर्णन भी रोचक है। साथ ही मलिन वस्त्रों में उसकी कठोरता को प्रगट करने के लिए एक लम्बी उपमा भी दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार एक चित्रकार 'पदार्थ' को सामने रखकर चित्र उपस्थित करता है, ठीक उसी प्रकार लेखिका ने

अपने वर्ण्य विषय का चित्रण किया है। कभी कभी इस प्रकार की शैली में वर्ण्य विषय दूर जा पड़ता है और कहने या लिखने का ढंग ही सब कुछ हो जाता है। फिर भी महादेवीजी का गद्य कलात्मकता का अच्छा उदाहरण है।

"अरबों ने शेख हसन से ज्यादा हुज्जत न की, कातिल की तलाश में दौड़े। शेख हसन फिर चटाई पर बैठकर कुरान पढ़ने लगा। लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रकृति में बद्धमूल हो गई थी। खून का बदला खून था। इसके लिए खून की नदियाँ बह जाती थीं, कबीले के कबीले मर मिटते थे, शहर के शहर वीरान हो जाते थे। उस प्रवृत्ति पर विजय पाना शेख हसन को असाध्य प्रतीत हो रहा था। बार बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी। बार बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चलकर दाऊद के खून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ। अरब वीर होते थे। काटना-मारना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। मरने वालों के लिये आँसुओं की कुछ बूँदें बहाकर फिर अपने कामों में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब उसके खून का बदला लेना होता था। अन्त को शेख हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब अपने ऊपर काबू नहीं रख सकता।"

'प्रेमचन्द'

यह गद्य खण्ड प्रेमचन्दजी की 'क्षमा' नामक कहानी में से लिया गया है। लेखक ने इस गद्य खंड को वर्णनात्मक शैली में लिखा है। न किसी विषय पर अपने विचार प्रगट किए हैं और न भाव। उसका चिन्तन, मनन, रुचि, अरुचि का कहीं भी कोई स्थान नहीं है। जो कुछ उसके समक्ष है उसी को सीधे सादे शब्दों में लिख दिया गया है। 'लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था', 'शेख हसन चटाई पर बैठकर कुरान पढ़ने लगा' आदि वाक्यों की सरलता और इतिवृत्तात्मकता प्रशंसनीय हैं।

न तो किसी बात को अत्यन्त ही संक्षिप्त किया गया है और न विस्तार ही दिया गया है। वाक्यों की बनावट ठेठ बोलचाल की भाषा है। ठीक ऐसे ही वाक्य हैं जैसे हम अपने प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार में लाते हैं। किसी भी प्रकार के अलंकरण या सजावट की चेष्टा नहीं की गई है। ऐसे ही गद्य को देखकर यह आशा होती कि हिन्दी अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में शीघ्र ही राष्ट्र-भाषा का रूप लेलेगी।

"सबसे पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है। आधुनिक काल में भारत की राज-भाषा अँग्रेजी है। मुगल काल में फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अँग्रेजी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं। राष्ट्रभाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है। जब से भारत में व्यापक राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रचलित हुआ है तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा या अन्तर्प्रान्तीय भाषा के स्थान को लेने के लिए निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बंगाली, मराठी, तेलगू और गुजराती आदि में ही अपने मनोभावों को प्रगट करती रही है। ये भाषाएँ अपने अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुईं।"

'धीरेन्द्रवर्मा'

यह गद्य खंड डा० धीरेन्द्र वर्मा के लेख "मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य" से लिया गया है। आप मुख्य रूप से भाषा विज्ञान के विद्वान् और लेखक हैं तथा अपने स्पष्ट चिन्तन के लिए प्रसिद्ध हैं। एक सफल अध्यापक होने के नाते आप विषय का बहुत ही तर्क संगत, युक्ति पूर्ण और स्पष्ट विवेचन करते हैं। ऊपर के गद्य खंड में राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा

साहित्यिक भाषा का भेद ऐसी सुन्दर रीति से समझाया गया है कि वह पाठक या विद्यार्थी के मन पर सदा के लिये अंकित होकर उसकी स्मृति में बस जाता है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। मूल वाक्य के साथ अधिक उपवाक्यों का प्रयोग नहीं किया गया है। बिराम चिन्हों का प्रयोग सावधानी और सतर्कता से किया गया है तथा अंग्रेजी एवं उर्दू शब्दों को ये उनके मूल उच्चारण के अनुसार ही लिखने के पक्षपाती हैं।

———

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी के पिता कहे जाते हैं। इन्होंने ही पहले पहल पद्य और विशेषतः गद्य में अपने समय की प्रचलित सामाजिक एवं राजनीतिक दशा का चित्रण किया है। यद्यपि इनके पहले भी हिन्दी गद्य के चार आचार्य इंशाउल्ला खाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्र तथा सदासुख लाल हो चुके थे परन्तु उनका गद्य केवल प्रयोगात्मक था। देश के व्यापक जीवन की नवीन आवश्यकताओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने ही पहले पहल गद्य को वह स्वरूप दिया जिसकी आधार-शिला पर भावी गद्य का प्रासाद निर्मित हुआ। इसी कारण उन्हें आधुनिक हिन्दी के पिता उचित रीति से ही कहा जाता है।

उन्होंने जिस हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा की तथा गद्य को जो रूप दिया वह इतना सर्वथा नवीन तथा अपूर्व था कि उनकी हिन्दी को 'हरिश्चन्दी हिन्दी' भी उस युग के लेखकों ने कहा। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी गद्य के टूटे फूटे तथा परम्परा प्राप्त रूप को जीवन की वास्तविकता से सम्बद्ध करने में उन्होंने कितना महान् तथा अधिक परिश्रम किया। किसी शैली का किसी लेखक के नाम से सम्बद्ध हो जाना एक बात है, परन्तु किसी भाषा का ही किसी लेखक के नाम से जुड़ जाना उसकी प्रतिभा तथा महान् सेवाओं का सूचक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि हिन्दी को जो रूप उन्होंने

केवल अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से दिया, वह उसे इससे पूर्व कभी प्राप्त नहीं था।

हिन्दी गद्य को इतना पुष्ट और नवीन रूप देने में भारतेन्दु को इसलिए भी सफलता मिली कि वे हिन्दी के पहले सफल पत्रकार थे। यद्यपि हिन्दी साहित्य का इतिहास टटोलने से उनसे पहले के भी कुछ पत्र तथा पत्रकार मिल जायँगे, परन्तु 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' पत्रों की दिशा में पहले सफल और कुछ स्थायी प्रयास थे। उस काल में जैसे पाठकों की संख्या सीमित थी, वैसे ही लेखकों की संख्या भी उँगलियों पर गिनी जाने योग्य थी। अतः अपने पत्रों में इन्हें स्वयं ही सब कुछ लिखना पड़ता था। इतना अधिक लिखने का अभ्यास करने के कारण उनकी शैली खूब ही मँज और निखर गई थी। जिन लोगों को इतनी प्रभूत मात्रा में लिखना पड़ता है, उनकी मनःस्थिति सदा ही एक सी नहीं रहती। कभी जीवन में शांति और संयम के क्षण होते हैं, कभी उत्तेजना और उद्वेग के। अतः शैली में भिन्न रूपता की स्थापना स्वतः हो जाती है। यही स्थिति भारतेन्दुजी की भी थी। उन्हें जीवन की सभी स्थितियों और मनोदशाओं में लिखना पड़ा। यही कारण है कि उनकी शैली में भिन्न रूपता के दर्शन होते हैं।

साथ ही भारतेन्दु-युग ऐसा था कि उसमें पाठकों की संख्या कम होने, अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त मनुष्यों में हिन्दी के प्रति एक उपेक्षा भाव होने आदि के कारण, लेखकों को भी यह धुन थी कि अपनी शक्ति भर हिन्दी की व्यंजना-शक्ति का विस्तार करें और भाषा लेखन की यथा सम्भव शैलियों का प्रयोग करें। अतः

हम देखते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शैली में एक प्रयोग-कालीन धुन और उत्साह है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'हिन्दी' नामक निबन्ध में भाषा लेखन की दो शैलियों—शुद्ध और मिश्रित का उल्लेख किया है। इससे उनका अभिप्राय उन्हीं दो शैलियों से था जिनका प्रयोग राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद कर चुके थे। परन्तु उन्होंने एक मध्यम-मार्ग को ही अपनाया। उन्होंने न तो जानबूझ कर अरबी फारसी शब्दों को ही स्थान दिया और न वे कठिन संस्कृत शब्दों के ही अनावश्यक शब्दों के प्रयोग के फेर में पड़े। उन्होंने यथाशक्ति हिन्दी की मूल प्रकृति को पहचाना और उसके विस्तार और विकास में ही दत्तचित्त रहे। आगे चलकर यद्यपि शुद्ध और मिश्रित शैलियों का आग्रह किसी अंश तक चलता रहा। पर अधिकांश लेखकों ने भारतेन्दु का मार्ग ही अपनाया। इसी से उनके युगारम्भकर्ता तथा आधुनिक हिन्दी के पिता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

उनके पहले की गद्य शैली पंडितऊपन तथा प्रांतीयता के दोष से भी दबी हुई थी। पंडिताऊपन का अर्थ था कि संस्कृत के विद्वान् जब हिन्दी लिखने बैठते थे तो वे वाक्यों की रचना बहुत कुछ संस्कृत के ढग पर करते थे। संस्कृत की वाक्य-रचना अपने अनेक व्याकरण सम्बन्धी नियमों के कारण इस प्रकार की थी कि वह हिन्दी में निभ नहीं सकती थी। कर्मवाच्य प्रयोगों का आधिक्य भी संस्कृत की अपनी विशेषता थी। वाक्य में कर्ता और कर्म का स्थान संस्कृत में कोई भी निश्चित नहीं था। संस्कृत के विद्वान् हिन्दी लेखकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। अधिकतर तो उन्होंने संस्कृत के अनुवाद ही प्रस्तुत किए और जीवन तथा

जगत से आँख बन्द करके तथा मुँह मोड़कर रचना की। परन्तु भारतेन्दु इस विषय में विशेषरूप से सतर्क थे। उन्होंने वाक्यों की उसी रचना को अपनाया जो खड़ी बोली बोलने वाले शिष्ट मनुष्यों में प्रचलित थी। पंडिताऊपन को दूर करने का यही अभिप्राय था।

साथ ही उस समय खड़ी बोली गद्य की रचना एक ऐसे क्षेत्र में हो रही थी जो उसका मूल स्थान नहीं था। लेखक भी ऐसे थे जिनकी मातृभाषा खड़ी बोली नहीं थी। अतः कुछ प्रान्तीय शब्दों और लोकोक्तियों का प्रयोग बढ़ने लगा। किसी भी भाषा के साहित्यिक रूप का विकास हो जाने पर तथा राष्ट्रीयता के विकास के साथ साहित्यिक भाषा को प्रत्येक सम्भव उपाय से समृद्ध करने की लालसा जगमगाने पर, प्रांतीयता का प्रवेश शुभ और श्रेयस्कर हो सकता है; परन्तु भारतेन्दु के युग में इस प्रकार की परिस्थितियों की उपलब्धि नहीं हुई थी। अतः शिष्ट और साहित्यिक खड़ी बोली के विकास की सम्भावना न रहती। भारतेन्दु ने इस स्थिति को अच्छी प्रकार समझा। उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया। उन्होंने हिन्दी गद्य की शैली को स्थिर किया।

परन्तु शैली-निर्माण से उनका बड़ा कार्य साहित्य और जीवन में एक सामंजस्य स्थापित करना था। अँग्रेजी पढ़े लिखे शिक्षित नव समाज के मध्यवर्गीय नवयुवकों की विचार-धारा और दृष्टिकोण में एक महान् और व्यापक परिवर्तन हो गया था। परन्तु देशी भाषाओं का साहित्य पुराने और पथराए हुए विचारों को लेकर चल रहा था। यह स्थिति असह्य थी। किसी

भी देश का साहित्य जब वहाँ की प्रगतिशील और विकासमयी विचार-धारा से पिछड़ जाता है, तो दोनों के बीच दिनों दिन गहरी खाई होती जाती है। भारतेन्दु ने अपने हिन्दी साहित्य की इस निराशामयी स्थिति को बहुत अच्छी प्रकार समझा और इस चौड़ी खाई को पाटने की यथाशक्ति चेष्टा की।

यही कारण है कि कविता में बहुत अंश तक रूढ़िवादी और परंपरा प्रेमी होते हुए भी गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दु एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर आए। ये एक कुलीन वैष्णव कुल के थे। परन्तु गद्य के क्षेत्र में उन्होंने जिस नवीन विचार-धारा को अपनाया, उससे उन्होंने एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। परिस्थितियों को समझकर अपने विचारों में इतना महान् परिवर्तन कर लेने के कारण ही उन्हें उस युग का साहित्यिक नेतृत्व मिला।

अपनी इस प्रगतिशीलता के कारण ही उनकी दृष्टि जीवन की तत्कालीन आवश्यकताओं से सम्बद्ध अनेक विषयों की ओर गई। स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह से उत्पन्न कुरीतियाँ, धार्मिक सहिष्णुता, देश-भक्ति, समाज-सुधार आदि विषयों पर उन्होंने अपने पत्रों में प्रभूत मात्रा में लिखा। इन विषयों पर लिखने लिखाने की प्रथा का आरम्भ भारतेन्दु के समय से ही हुआ। नवयुवकगण इस प्रकार का साहित्य चाहता ही था। अतः देखते देखते भारतेन्दु की ख्याति बढ़ चली।

परन्तु ऐसे विषयों पर लिखने के लिए उस समय एक उदारतावादी दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। सब कुछ प्राचीन और परंपरा प्राप्त को निरर्थक और निकम्मा कहकर टाल देने से पुराण पंथियों को अत्यन्त क्रुद्ध करना था और परंपरा का

अन्धाधुन्ध पालन करने से नवयुवक समाज को चिढ़ाना था। अतः हम देखते हैं कि उन्होंने अत्यन्त उदार दृष्टि से एक मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जिससे समाज के पुराने और नए वर्ग सभी थोड़े-बहुत उनके साथ चले।

भारतेन्दु ने अधिकतर नाटक और निबन्ध लिखने की ओर ही ध्यान दिया। नाटकों के द्वारा वे जनता के एक बड़े भाग के समीप तक सरलता से पहुँच सकते थे और साथ ही जनता का एक निर्दोष मनोरंजन भी हो सकता था। इसके साथ ही साथ उन्होंने निबन्ध भी बहुत से लिखे। उस समय गद्य के अन्य रूपों—आख्यायिका—यात्राविवरण आदि का विकास नहीं हुआ था। अतः भारतेन्दु और उनके सहयोगी निबन्ध से ही सब काम लेते थे।

इनके इन निबन्धों में हमें प्रायः दो पद्धतियाँ मिलती हैं। कुछ निबन्ध विचार-प्रधान हैं तथा कुछ भाव-प्रधान। परन्तु उन्होंने विचार-प्रधान निबन्ध थोड़े ही लिखे हैं। इनकी वृत्ति भाव-प्रधान निबन्धों के लिखने में ही रमती थी। यही उस युग का विशेषता थी कि लेखक किसी भी सामान्य से विषय पर भाव-प्रधान तरंग शैली में लिखा करते थे।

इनके इन भाव-प्रधान निबन्धों में बड़ी ही आत्मीयता रहती थी। लेखक इस रूप में लिखता था कि पाठक मानों उसका कोई सगा सबन्धी हो और उससे उन्हें कोई दुराव-छिपाव नहीं है। वे मानों पाठक को अपने सामने बैठाकर उसके सामने अपना हृदय खोल कर रख देते हैं। उनके इन लेखों में जीवन के प्रति उत्साह कूट कूट कर भरा रहता था। व एक नवयुग के निर्माण के अग्रदूत थे, जो आशा और उत्साह से भरपूर थे।

हरिश्चन्द्र ने जहाँ गद्य के निर्माण में इतना योग दिया, वहाँ कुछ बातों की ओर उनकी दृष्टि जा भी नहीं पाई। विदेशी शब्दों को किस रूप में लिखा जाय—उनके शुद्ध रूप में अथवा जिस रूप में वे सामान्यतः बोले जाते थे—इस ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इसी प्रकार मूल वाक्य के साथ उपवाक्यों को किस प्रकार सम्बद्ध करना चाहिए, इस ओर भी उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। गद्य में विराम चिन्हों के प्रयोग का आरम्भ भी लगभग उन्हीं के युग से ही आरम्भ हुआ था। अतः इस सम्बन्ध में भी वे अपने निबन्धों में अधिक सावधान नहीं दीख पड़ते।

फिर भी अपने निबन्धों के हास, व्यंग्य, आत्मीयता और जिन्दादिली के लिए वे सदा स्मरण किए जायँगे।

पं० बाल कृष्ण भट्ट

(१८४४—१९१४)

भारतेन्दु के सहयोगी लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास तथा बालकृष्ण भट्ट मुख्य थे। परन्तु निबन्ध लेखक की दृष्टि से प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट का ही नाम प्रसिद्ध है। इन दोनों ने शैली एवं विचारों की दृष्टि से भारतेन्दु द्वारा आरम्भ किए हुए कार्य को आगे चलाया।

पं० बालकृष्ण भट्ट संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, परन्तु उन दिनों के संस्कृत विद्वानों में जैसा परंपरा का प्रेम और रूढ़ि-वादिता थी, उनका लेशमात्र भी इनमें न था। इनके पास जीवन के प्रति एक नितान्त नवीन दृष्टिकोण तथा उदार विचार-धारा थी। वे समय और समाज की परिस्थितियों को खूब समझते थे। इनके नाटक 'बालविवाह' तथा निबन्ध 'साहित्य' जन समूह के हृदय का विकास है आदि से उनके उन्नत विचारों का आभास सहज ही मिल जाता है। कट्टर-वादिता तो उन्हें छू भी नहीं गई थी। उनके संस्कृत-प्रेम ने उनसे हिंदी के प्रति कर्तव्य पर परदा न डाल दिया था।

उनके उदार विचारों का पता केवल इसी बात से चल जायगा कि वे न तो वेदों के बहुदेव-वाद में विश्वास करते थे और न उनकी अपौरुषेयता पर। कालिदास और भवभूति आदि के काव्य को वे 'कामिनी के विभ्रम विलास और लावण्य

लीला-लहरी में गोते मारना' समझते थे। शंकराचार्य के प्रभाव को देश के लिए हानिकारक समझते थे और गुरु नानक के प्रभाव को शुभ और कल्याणकारी। यद्यपि पुराणों का मत-मतान्तर वाद उन्हें प्रिय नहीं था, फिर भी वे इस बात में उनकी उपयोगिता समझते थे कि उनके द्वारा वेदों का हिंसावाद समाप्त हुआ और अनेक कुरीतियों की ईति भी हुई।

इन विचारों में आज कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती परन्तु यदि हम इन विचारों को उस युग की दृष्टि से देखें तो हमें भट्ट जी के विचार स्वातन्त्र्य पर मुग्ध हो जाना पड़ेगा। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है' में उन्होंने पहले पहल एक अदम्य साहस और अकाट्य तर्क से साहित्य को प्रतिक्रिया-वादी शक्तियों के पंजे से मुक्त करने का प्रयास किया। जो साहित्य शताब्दियों से भक्ति और शृंगार की सीमाओं में वद्ध था, उसे मुक्त कर जन जीवन की विस्तृत भूमि में लाये।

भारतेन्दु काल में और उसके कुछ उपरान्त हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ सी आगई थी। परन्तु ये सब अल्प कालीन थे। उनमें से कोई भी दीर्घ काल तक न चल सका। परन्तु भट्टजी का हिन्दी प्रदीप १८७८ से १९१० तक चलता रहा। इस पत्र को लगातार ३२ वर्षों तक चलाते रखने से उनके अध्यवसाय, कार्य-शक्ति और संकल्प बल का पाठकों को सहज ही अनुमान हो सकता है। इस पत्र के द्वारा वे सतत रूप से साहित्य-साधना का कार्य करते रहे। "हिन्दी प्रदीप' के दीर्घ जीवन की ओर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा था उसे गर्वोक्ति कहना अपराध है वास्तव में उनकी विनम्रता के नीचे वस्तु-

स्थिति दब गई है जिसकी बहुत कम लोगों को पहचान हुई है। उन्होंने लिखा था—"पाठक ! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिए जायें तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय।"

हिन्दी प्रदीप को इतनी कठिनाइयों के बीच चला सकने में उनके जीवन की परिस्थितियाँ भी किसी न किसी रूप में सहायक थीं। उनके पिता का देहान्त उनके जन्म समय ही हो गया था। वे ननिहाल में पले थे। बड़े होते हुए भी उन्हें अपने छोटे भाई तथा उसकी स्त्री के घोर अत्याचार सहने पड़े थे। उन्होंने जीवन में सुख जाना ही नहीं था। कठिन परिस्थितियों से योद्धा की भाँति लड़ने में वे सिद्धहस्त थे और हिन्दी प्रदीप की सफलता का रहस्य भी इसी में निहित है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में दो प्रकार की शैलियों का प्रचलन किया था। पहली शैली विचारात्मक और गम्भीर थी जिसमें भाषा अपेक्षाकृत संस्कृतमयी और कथन का ढंग सीधा तथा सज्जाहीन होता था। दूसरी शैली भाव-प्रधान थी। जिसमें विदेशी शब्दों का भी मुक्त रूप से प्रयोग होता था और थोड़ा सा अलंकरण भी रहता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट-जी ने अपने अधिकांश निबन्धों में पहली शैली को ही अपनाया। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' 'शंकराचार्य तथा गुरु नानक' आदि निबन्धों में इस शैली की छटा पूरे प्रकार से मिलती है। परन्तु 'आँसू' 'चन्द्रोदय' आदि निबन्धों में इनकी भाव-प्रधान शैली मिलती है। इस कोटि का निबन्धों में भी भाषा मिश्रित है तथा अलंकरण का प्रयास भी बहुत अधिक है। अपने नाटकों

और उपन्यासों में उन्होंने सीधी सादी वर्णनात्मक शैली को अपनाया है। परन्तु भट्टजी अपनी गम्भीर विचारोत्तेजक शैली के लिए ही प्रसिद्ध हैं। इसीलिए प्रसिद्ध आलोचक डा० राम-विलास शर्मा लिखते हैं वे साहित्यिक, सामाजिक और मनोवैज्ञा-निक समस्याओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते थे और वैसी ही गम्भीरता से वह उन पर अपने सुझाव भी प्रगट करते थे। इसलिए उनकी शैली बहुधा आचार्य शुक्ल की याद दिलाती है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने इन गम्भीर लेखों में भट्ट जी ने अकाट्य तर्कों का सहारा लिया है। वे अपने मत की स्थापना के लिए कहीं भी पाठकों में भावावेश उत्पन्न नहीं करते। वे उनकी जातिगत या समाजगत मान्यताओं का सहारा लेते हुए नहीं चलते। इस प्रकार के निर्भय और कठोर तर्क-वितर्क के बीच अवश्य ही लेखक आत्मीयता स्थापित नहीं कर पाता, वह तटस्थ रहता है। परन्तु गम्भीर लेखों में यह तटस्थता केवल अपेक्षित ही नही एक नितान्त आवश्यक गुण भी है। लेखक का किसी विचार के साथ पक्षपात न होने से पाठक को विचारों के ग्रहण या स्वीकार करने में किसी प्रकार का आगा-पीछा नहीं होता।

अपने चारों ओर फैले हुए अन्धविश्वासों और पुराणप्रियता से उन्हें मार्मिक दुख था। यद्यपि इस विषय परिस्थिति से वे निराश नहीं थे परन्तु फिर भी पाठक के हृदय पर ऐसे मर्मभेदी प्रहार करते थे कि वह तिलमिला उठता है। ठीक भी है रोग के बहुत बढ़ जाने पर तेज दवा ही दी जाती है। यही कारण है कि उनका हास्य और व्यंग्य तीखा, तेज और तिलमिला देने वाला है। उसमें कहीं भी सहृदयता नहीं है।

विशेषकर अपने भावात्मक निबन्धों में उन्हें मुहावरों के

प्रयोग का भी बड़ा शौक था। 'आँख' आदि विषयों पर लिखे हुए उनके निबन्ध तो मुहावरों के संग्रह से जान पड़ते हैं। इन निबन्धों को देखकर सहसा यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि इनका लेखक कुछ गम्भीर विषयों पर भी लिखता होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के छोटे भाई को आँख पर हाथ रखे देखकर इनकी कही हुई यह उक्ति प्रसिद्ध ही है "भैया! यह आँख बड़ी बला है। इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।"

उनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन सोलह आने सत्य है "पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी ही होती थी जैसी खरी खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन और पुरातन का वह संघर्षकाल था इससे भट्टजी को चिढ़ने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नये विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कार पूर्ण होती थी।"

भट्टजी द्वारा निर्मित साहित्य में उनके दो नाटक 'बाल-विवाह' एवं 'रेल का विकट खेल' दो उपन्यास सौ अजान एक सुजान 'एवं' 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा निबन्धों में 'माधुर्य', 'आशा' 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता', 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'बाल्यकाल', 'बातचीत', शब्द की आकर्षण शक्ति, 'श्री शंकराचार्य' और 'गुरु नानक' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

उनके निबन्धों के दो संग्रह 'साहित्य सुमन' और 'भट्ट निबन्धावली' के नाम से छप भी चुके हैं।

बालमुकुन्द गुप्त

(१८६५—१९०७)

हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखक, निबन्धकार एवं पत्र सम्पादक श्री बालमुकुन्द गुप्त दो युगों के लेखक हैं। उन्होंने भारतेन्दु युग में भी लिखा एवं द्विवेदी युग में भी। इस प्रकार ये हिन्दी की सेवा एक दीर्घ काल तक अनवरत परिश्रम तथा लगातार उत्साह से करते रहे।

हिन्दी के क्षेत्र में आने के पहले ये उर्दू के लेखक थे। ये दो एक उर्दू पत्रों का सम्पादन भी कर चुके थे। अरबी-फारसी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। वास्तव में भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों द्वारा जब हिन्दी की उन्नति के लिये एक प्रबल आन्दोलन चलाया गया, उसी समय इन्हें भी हिन्दी के क्षेत्र में आने की प्रेरणा मिली। इसी से इनके राष्ट्र-प्रेम तथा हिन्दी-हित-भावना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है हिन्दी के क्षेत्र में आने पर इन्होंने इतनी उन्नति की कि शीघ्र ही हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों में इनकी गणना होने लगी। इन्होंने बंगवासी, एवं भारतमित्र समाचारपत्रों का सम्पादन किया। कुछ समय तक ये कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह द्वारा चलाए हुये 'हिन्दोस्तान' पत्र के सम्पादक मण्डल में भी कार्य करते रहे।

जिस प्रकार भारतेन्दु के पहले और उनके समय में हिन्दी गद्य का विकास हो रहा था और उसमें कितनी ही प्रकार की शैलियों का प्रचलन दिखाई पड़ रहा था, ठीक इसी प्रकार उर्दू

के क्षेत्र में भी यह सब क्रिया हो रही थी। परन्तु अनेक कारणों से—जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है—उर्दू और हिन्दी के गद्य एक दूसरे से लाभ उठाकर अपनी उन्नति नहीं कर रहे थे। बालमुकुन्द गुप्त के उर्दू से हिन्दी में आने पर हिन्दी गद्य के विकास में वह कमी पूरी हुई।

यह कहा जा चुका है कि उर्दू पत्रों का सम्पादन कर चुकने के कारण, बालमुकुन्द गुप्त की शैली मँज चुकी थी। अतः उर्दू गद्य के क्षेत्र में हिन्दी से जो कुछ भी भिन्न था, वह सब इन्होंने हिन्दी की समृद्धि के लिये दिया। हिन्दी के क्षेत्र में धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों की अधिकता थी, परन्तु उर्दू के लेखकों में जीवन के प्रतिदिन के छोटे-छोटे प्रश्नों पर लिखने का चलन था। उर्दू के लेखकों में राजनीतिक जागृति अधिक नहीं थी फिर भी जो कुछ लिखा जाता था वह बहुत ही शिष्ट और सभ्य व्यंग्य के रूप में। हिन्दी के लेखकों में संयम अधिक था; परन्तु उर्दू के लेखकों में भाषा का चुलबुलापन अधिक था। अतः बालमुकुन्द गुप्त के हिन्दी क्षेत्र में आने पर हिन्दी गद्य को कई ऐसी विशेषताएँ मिलीं, जो हिन्दी लेखकों में या तो थीं ही नहीं, अथवा थोड़ी थीं।

ये विशेषरूप में अपने आलोचनात्मक तथा राजनीतिक निबन्धों के लिए ही प्रसिद्ध हैं। पर राजनीतिक की अपेक्षा इन्होंने आलोचनात्मक लेख कम लिखे हैं। आलोचनात्मक लेखों में इनका लेख भाषा की अस्थिरता बहुत प्रसिद्ध है जिससे स्पष्ट होता है कि भाषा की शुद्धता और व्याकरण संगति की ओर इनका विशेष रूप से ध्यान था। एक बार 'सरस्वती' सम्पादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब 'अस्थिरता के स्थान पर

'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग कर दिया, तो भाषा की शुद्धि के विचार से तथा अपनी विनोदशील प्रकृति के कारण 'आत्माराम' उपनाम से कुछ लेख लिखकर इन्होंने द्विवेदीजी जैसे हिन्दी भाषा-विद् से भी टक्कर ली। इसीसे, भाषा की शुद्धि का इन्हें कितना आग्रह था, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

परन्तु इनके अधिकांश लेख राजनीतिक ही हैं। अपने राजनीतिक विचारों में ये बड़े ही उग्र थे। इन्हें ब्रिटिश शासन में अनेक दोष दिखाई पड़ते थे, परन्तु उन दोषों की सीधे और खुले रूप में आलोचना कर सकना उस काल की राजनीतिक जागृति में सम्भव नहीं था। अतः इन्होंने भी अधिक राजनीतिक व्यंग्य या रूपक लिखे हैं। इनके 'शिव शम्भु के चिट्ठे' बड़े प्रसिद्ध हैं। शिवशम्भु भंगड़ी है। वह भंग की तरंग में अनेक प्रकार की बकवाद सी करता प्रतीत होता है। वह कल्पित व्यक्तियों पर प्रहार करता है। वह अनेक प्रश्नों और समस्याओं पर प्रकाश डालता है। परन्तु उसके इस अनर्गल और अव्यवस्थित प्रलाप में एक गहरा व्यंग्य है। जिस प्रकार मरुभूमि में अन्तःसलिला होती हैं, ठीक इसी प्रकार इनके इन लेखों में गहरी वास्तविकता है। इनके राजनीतिक व्यंग्य न कहीं अस्पष्ट हैं और न क्लिष्ट अथवा दुरूह। उनका अर्थ इतना स्पष्ट है कि साधारण से साधारण पाठक की समझ में भी शीघ्र ही आ जाता है। उदाहरण के लिये उनका यह व्यंग्य देखिये। "शिवशम्भु ने जिस समय बूटी चढ़ाई ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवन की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुये।" यहाँ किसी भी साधारण पाठक को यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मूर्ति खोलने' के कार्य को जिसे अँग्रेज बड़े महत्व का

समझते थे—लेखक कितना निकम्मा तथा अनावश्यक समझता है। इस प्रकार एक नहीं अनेक व्यंग्य इनके लेखों में भरे पड़े हैं।

यह ठीक है कि इनके लेखों में अनेक समस्याओं पर केवल प्रकाश ही डाला गया है। उन समस्याओं का कोई हल नहीं सुझाया गया है। पर ऐसे लेखों से ब्रिटिश-शासन की खराबियों की ओर जनता का ध्यान शीघ्रता से तथा व्यापकरूप से खिंचा जिससे आगे चलकर राजनीतिक जागृति हुई। इनके इन लेखों को हम नींव की वे ईंटे कह सकते हैं जिनपर बड़े बड़े प्रासाद बनते हैं।

यह भी ठीक है कि इन व्यंग्यों से लेखक का कोई गम्भीर मनन या चिन्तन नहीं टपकता। समस्याओं का केवल धरातलीय रूप ही हमारे सामने आता है, ठीक उतना ही जितना सामान्य पाठक की बुद्धि सरलता से ग्रहण कर सके। यही कारण है कि इनके लेखों का प्रचार सामान्य और साधारण जनता के बीच खूब हुआ। उन्हें मनोरंजन की अच्छी सामग्री मिली। ये चिट्ठे पहले पहल 'सरस्वती' में क्रमरूप से छपा करते थे और पाठक बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा करते थे।

इन लेखों में वाक्य भी बड़े-बड़े छोटे-छोटे रहते थे। ये अधिकतर परिचयात्मक शैली में लिखे जाते थे। भाषा चलती और मुहावरेदार होती थी। अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के सामान्य बोलचाल के शब्दों का प्रयोग ये खुलकर करते थे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा चुलबुली होती थी। कभी कभी कल्पनाएँ भी बड़ी बेतुकी होती थी। इस बेतुकेपन का कारण अधिकतर यही था कि वे सरकारी दमन चक्र में न फँस जायँ।

पाठकों का मनोरंजन करने में इनकी दृष्टि सदा इस बात की ओर रहती थी कि वे पाठकों को अपने साथ लगाये रखें। इनके लेख पढ़ते समय यह असम्भव है कि पाठक का ध्यान कहीं भटक जाय। यह रसमयी विशेषता इनके लेखों में सर्वत्र उपलब्ध होती है।

हिन्दी गद्य के निर्माण कर्ताओं, उसे सामयिक राजनीतिक दोषों से परिचित कराने वालों एवं नवीन गति विधि देने वालों में इनका नाम सदा ही आदर से लिया जायगा। भारतेन्दु युग के ये प्रधान स्तम्भों में से एक हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

(१८५६—१८९४)

भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनका निवास स्थान प्रायः कानपुर रहा। ये वहाँ के कवि समाजों, लावनीबाजों के अखाड़ों से लेकर समाज-सुधार तथा देश-हितैषी सम्बन्धी सभा-सोसाइटियों में भाग लेते थे। ये काँग्रेस के कार्यों से भी बड़ी सहानुभूति रखते थे और उसके अधिवेशनों में भी बड़ी उमंग और उत्साह से भाग लेते थे। अनेक बातों में ये भारतेन्दु के समान ही उदारतावादी थे। फिर भी पाश्चात्य शिक्षा, विलायत-यात्रा आदि के पक्ष में ये नहीं थे। परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि इनमें किसी प्रकार की कट्टरता या पुराणपंथीपन था। इनमें उदार विचारों का पता तो केवल इसी सम्मत्ति से लगाया जा सकता है जो कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के सम्बन्ध में इन्होंने अपने प्रसिद्ध पत्र 'ब्राह्मण' में दी थी, "इनकी पैदाइश भगवान के मुख से है, और मुख ऐसा स्थान है जहाँ थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा, वह कहाँ तक थुकैलापन न करेगा।"

भारतेन्दु के समान ही ये देश-दशा से अच्छी प्रकार परिचित थे। एक दो बातों में थोड़ा मतभेद रखते हुए भी ये समय की आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार समझते थे। देशोन्नति के प्रत्येक काम में इन्हें पूरी दिलचस्पी थी। अपने

देशी कपड़ा नामक निबन्ध में ये लिखते हैं "हम और हमारे सहयोगी-गण लिखते लिखते हार गये कि देशोन्नति करो, पर यहाँ वालों का सिद्धान्त है कि अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाय, यद्यपि, जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बचे न रहेंगे। पर समझाना तो मुश्किल काम है न। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहनोहीगे, एक बेर हमारे कहने से एक जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से कुछ अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा भकुआ कौन? नहीं नहीं, हम सबसे अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं।"

ऊपर की कुछ पंक्तियों से इनके विचारों का कुछ आभास सहज ही पाठक के मन पर जम सकता है।

भारतेन्दु युग के अन्य लेखकों की भाँति इन्होंने भी अपना पत्र चलाया, जिसका नाम 'ब्राह्मण' था। पत्र को इन्होंने किन परिस्थितियों में चलाया, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि ये स्वयं ही प्रायः सारे लेख लिखते थे, उनका सम्पादन करते, ग्राहकों के घर पत्र स्वयं ही दे आते और कभी कभी तो खुद ही उन्हें पढ़कर सुना भी आते थे। इसके उपरान्त भी चन्दे के लिए इन्हें निहोरे करने पड़ते थे और भीख सी माँगनी पड़ती थी। इन्होंने स्वयं लिखा है, 'ब्राह्मण को जिस तरह आज तक चलाया है, हमीं जानते हैं' पर साथ ही उन्हें अन्य पत्रकारों की स्थिति देखते हुए संतोष था। पं० बालकृष्ण भट्ट और उनके हिन्दी प्रदीप के सम्बन्ध में वे लिखते हैं "ब्राह्मण से दूना उसका

आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके सम्पादक श्री बालकृष्ण भट्ट हैं, वह हमसे भी गई बीती दशा में ठहरे। कुटुम्ब बड़ा, खर्च बड़ा, सहायक सगा बाप भी नहीं; स्पष्ट वक्तापन के मारे ज़बानी दोस्त भी कोई नहीं।'' पत्रकारों की इस दयनीय स्थिति में भी वे एक अटल योद्धा की भाँति खड़े रहे।

भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित दो शैलियों में से ये भावात्मक शैली को ही लेकर चले जिसमें हास्य, विनोद और कहीं कहीं हल्का व्यंग्य प्रभूत मात्रा में मिलता है। देश और समाज की कुरीतियों से ये भी पंडित बालकृष्ण भट्ट की ही भाँति परिचित थे, परन्तु विषवाण चलाने के स्थान पर इन्होंने मीठी चुटकियाँ ही अधिक ली हैं। इनके हास्य में एक सहृदयता है। ये इतना कटु प्रहार नहीं करते कि पाठक तिलमिला उठे। इनके हास्य के सम्बन्ध में यह मत भी प्रगट किया गया है कि उसमें कहीं कहीं भद्दापन और अशिष्टता है। यह कथन कुछ अंशों में अवश्य ही सत्य है।

इस हास्य और विनोद के लिए तथा अपने लेखों में मनोरंजन की स्थापना के लिए इन्होंने श्लेषों का बहुत अधिक आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए 'जब जड़ वृक्ष आम भी बौराते हैं तब आम-खास सभी के बौराने की क्या बात है।' कभी कभी तो इनके निबन्धों में यह प्रवृति भी देखी जाती है कि किसी विषय को उठाया और उस पर किसी एक विचार या भाव को लिखा परन्तु ध्यान में कोई श्लिष्ट शब्द आते ही उसके प्रयोग करने की धुन में किसी ऐसे विचार को व्यक्त कर देते थे जिसका पहले भाव या विचार से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता था। अतः इनके बहुत से लेख उटपटाँग बातों के संग्रह से

जान पड़ते हैं। उनमें व्यक्त बातों में कोई भी अन्योन्याश्रय संबंध नहीं है।

श्लेष के साथ ही साथ इन्हें लोकोक्तियों के प्रयोग की भी धुन थी। कभी कभी तो ये उसकी एक लम्बी झड़ी लगा देते थे। उदाहरण के लिए, "यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं, तो भी यदि हम पराई भौंहे ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात-बात पर भौंहे चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध होके, वीरता से भौंहे तान के देश-हित में सन्नद्ध हो जायँ, अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व-पुरुषों के रुजगार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दें।"

इतना ही नहीं इनके कुछ निबन्धों के शीर्षक ही लोकोक्तियाँ हैं। यथा 'ऊँच निवास नीच करतूती', 'घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधे', 'जानै न बूझै कठौता लेकर जूझै' आदि।

इनके निबन्धों में आत्मीयता इतनी अधिक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये कुछ लिख नहीं रहे हैं, अपितु पाठक को सामने बैठा कर उससे बातचीत कर रहे हैं। वे उससे कुछ भी नहीं छिपाते। जो कुछ मन में आता है उसे बेधड़क कह जाते हैं। जिस प्रकार जिस मनुष्य को हम अपना ही समझते हैं, उससे बिना लागलपेट के सब कुछ कह जाते हैं, और कभी-कभी तो स्वयं ही उसके प्रश्नों और शंकाओं की कल्पना करते हुए उत्तर भी देते चलते हैं, इसी प्रकार की आत्मीयता इनके लेखों में झलकती है।

यद्यपि इनके लेखों से इनका अध्ययन और गम्भीरता कहीं भी नहीं झलकती, परन्तु उनमें सुबोधता और सरलता का अत्यधिक गुण है। कहीं भी कोई ऐसा शब्द, भाव या विचार नहीं आता जहाँ पाठक को कुछ रुक कर सोचना पड़ता हो। हम एक ऐसे राजमार्ग पर चलते हुए अनुभव करते हैं जहाँ कुछ भी ऊबड़-खाबड़ नहीं है, कोई मार्ग-रोध नहीं है।

इनमें मौजीपन और फक्कड़पन तो कूटकूट कर भरा हुआ था। बिना कुछ सोचे-विचारे कि क्या लिखना है और क्या नहीं, ये किसी भी विषय पर लिखना आरम्भ कर देते थे और जो कुछ समय पर सूझ जाता था वही लिख मारते थे। यही कारण है कि इनकी कल्पनाओं में कहीं कोई मर्यादा नहीं मिलती। यही तो कारण है कि दाँत, भौंह जैसे विषयों पर भी इन्होंने लम्बे-लम्बे लेख लिख मारे हैं। इनके पश्चात् यह शैली थोड़ी बहुत बालमुकुन्द गुप्त के 'शिव शम्भु के चिट्ठे' में तो दिखाई पड़ती है, अन्यथा आगे चल कर उसका सर्वथा लोप ही हो गया।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र अपने पूर्वी प्रयोगों और ग्राम्यत्व के लिए सदा स्मरण किये जायँगे। बैसवाड़े की अवधी इनकी मातृभाषा थी और अपने निबन्धों में ये उसका खुलकर प्रयोग करते थे। लिखना आरम्भ करके इनकी कलम रुकना तो जानती ही न थी। जहाँ जो शब्द सरलता से स्मृति में आ गया, उसी का ये बेधड़क प्रयोग कर जाते थे। कारण यह है कि वह खड़ी बोली का निर्माण काल था अतः उसे समृद्ध बनाने पर वैसी रोक-थाम न थी जैसे द्विवेदी युग में जाकर लगी। कुछ लोगों ने इस प्रवृत्ति को गर्हित और निन्दनीय कहा है। संस्कृत शब्द सदा अपने शुद्ध रूप में ही लिखे जायँ, इसके भी ये पक्षपाती

नहीं थे। शिर्ष, रितु आदि शब्द इनकी रचनाओं में बराबर मिलते हैं।

वाक्यों की रचना और विराम चिन्हों के प्रयोग में भी ये अधिक सतर्क नहीं थे।

इनके लिखे निबन्धों में बात, वृद्ध, भौं, धोखा, आप, काल, स्वार्थ, खुशामद, आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी

(१८६४—१९३८)

निस्सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उपरान्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ही व्यक्तित्व हिन्दी में सबसे बड़ा था। भारतेन्दु का प्रभाव कुछ व्यक्तिगत था, वे उन्हीं लेखकों में नवजीवन फूँक पाये, जो उनके संसर्ग में आये, उनकी पत्रपत्रिकाओं का उतना प्रचार न था कि वे देश के एक बड़े भाग में नवीन चेतना का संचार कर पाते, परन्तु द्विवेदी जी की परिस्थिति उनसे बहुत भिन्न थी। उनके समय में हिन्दी का प्रचार कुछ आगे बढ़ चुका था। राष्ट्रीय भावना कुछ प्रबल हो चली थी। यद्यपि लेखकों का अभाव था, परन्तु पाठक और ग्राहक इतने अवश्य मिल जाते थे कि कोई पत्रपत्रिका किसी प्रकार चल सके। कहने का अभिप्राय यही है कि द्विवेदी जी की परिस्थितियाँ, भारतेन्दु की परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक अनुकूल थीं।

भारतेन्दु युग में लेखक अधिकतर मनोरंजक साहित्य की सृष्टि और प्रचार में ही लगे रहे। उन्हें हिन्दी की उपेक्षा करने वालों को एक प्रकार से रिझाना था, परन्तु द्विवेदी जी के समय में आकर हिन्दी के प्रति यह उपेक्षा-भाव बहुत कुछ कम हो गया। मातृभाषा के विकास के महत्व को शिक्षित लोग समझने लगे थे। इनमें यह चेतना भली प्रकार बद्धमूल हो गई थी, राष्ट्रीय उत्थान के कार्य में भाषा और साहित्य को पीछे

नहीं छोड़ा जा सकता। द्विवेदीजी को एक बड़ी सुविधा यह भी मिली कि मनोरंजक और सृजनात्मक साहित्य के साथ ही साथ ज्ञान के साहित्य के लिए भी रुचि जागृत हो गई। अब पढ़ेलिखे लोगों में यह भी उत्साह पैदा हो रहा था कि वे भी साहित्य की सृष्टि में कुछ योग दें। अतः उनके लिए यह सरलता से सम्भाव्य था कि वे ऐसे नए-नए विषयों पर—जिनकी जानकारी हिन्दी वालों को नहीं थी—छोटे छोटे परिचयात्मक लेख लिखें। परन्तु फ़िर भी उनमें थोड़ा-बहुत बुद्धि का आलस्य या प्रमाद रहता था। फिर वे इस बात से भी डरते थे कि उन्हें हिन्दी का पूरापूरा ज्ञान नहीं था। उनका शब्दावली पर भी पूरा अधिकार नहीं था।

अतः किसी ऐसे हिन्दी भाषा के आचार्य की आवश्यकता थी जो सहानुभूतिपूर्ण ढंग से ऐसे इच्छुक लेखकों को हाथ पकड़ कर हिन्दी-सेवा के क्षेत्र में ले आये। उन्हें निरन्तर सहारा देता हुआ, आगे बढ़ावे, उनकी भूलों को सुधारे तथा उनके लेखों का विस्तृत रूप से सम्पादन करे। श्री द्विवेदी जी में हमें एक ऐसे ही कुशल और सहानुभूतिपूर्ण आचार्य की प्राप्ति हुई।

द्विवेदी जी ने लगभग २० वर्षों के अपने सरस्वती-सम्पादन कार्य में हजारों ही पृष्ठ लिखे और न जाने कितने लेखों का सम्पादन किया। उन्हें सम्पादन कार्य में एक-एक शब्द को जाँचना पड़ता था। एक-एक मात्रा, विन्दु तथा विराम चिन्हों को परखना पड़ता था और साथ ही यह काम स्वयं अकेले करना पड़ता था। उनके सम्पादन किये हुए जो लेख नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित हैं, उनके अनुशीलन से पता चलता है कि कभी कभी तो उन्हें सारा का सारा लेख ही रंग देना पड़ता

था। फ़िर भी वे कभी ऊबते नहीं थे। कैसा भी कोई अशुद्ध लेख आवे, यदि उनके द्वारा उनके विचार में हिन्दी का कोई हित होता दिखाई पड़ता था, तो वे उसे शुद्ध करके अवश्य छपवाते थे। इस प्रकार हिन्दी की हित-साधना में उन्हें चौबीसों घंटे जुटा रहना पड़ता था।

इस सम्पादन कार्य के द्वारा ही उन्होंने हिन्दी को नई गतिविधि दी। उन्होंने उसका सब प्रकार से संस्कार किया। कई रूपों में लिखे जाने वाले एक ही शब्द को रूप-स्थिरता दी। जो थोड़े बहुत प्रान्तीय अथवा एक-देशीय शब्द भारतेन्दु काल से हिन्दी भाषा में चले आ रहे थे, उनका प्रयोग निषिद्ध किया।

हिन्दी गद्य पर जो थोड़ा बहुत प्रभाव ब्रजभाषा का चला आ रहा था, उसे भी समाप्त किया। इसके साथ ही साथ वाक्य-रचना में जो थोड़ा बहुत पंडिताऊपन चला आ रहा था, अथवा अंग्रेजी के अनुवाद स्वरूप हिन्दी की वाक्य-रचना जो शिथिल हो चली थी, एवं खड़ी बोली के गद्य पर जो थोड़ा बहुत काव्यात्मक अलंकरण था, उसे भी समाप्त किया। भाषा का यह संस्कार-कार्य इनके द्वारा इतने व्यापक रूप से हुआ कि उसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

द्विवेदी युग के पूर्व तक संस्कृत साहित्य के प्रति लोगों की अन्धभक्ति और श्रद्धा थी। पुराने ढंग के पंडित विदेशी साहित्य के ज्ञान के अभाव में यह समझते थे कि संस्कृत साहित्य ही सब कुछ है। पाश्चात्य शिक्षित युवक संस्कृत न जानने के कारण यह समझते थे कि संस्कृत साहित्य में न जाने क्या क्या भरा है। यह स्थिति और अपने प्राचीन साहित्य के प्रति ये भावनाएँ

किसी भी प्रगतिशील जाति के लिए शोभादायक नहीं थीं। अतः द्विवेदी जी ने स्वयं भी और अपने सहयोगियों की सहायता से अनेक संस्कृति ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित किये और संस्कृत साहित्य को एक आलोचनात्मक दृष्टि से जनता के सामने रखा। वे यह जानते थे कि जो जाति सदा पीछे की ओर ही मुँह किये रहती है, वह कदापि आगे नहीं बढ़ सकती। यद्यपि उनके युग में भारत कालीदास पर गर्व करना सीख चुका था परन्तु फिर भी द्विवेदी जी कालीदास के अन्धभक्त नहीं थे और उनकी शृंगारी कविता को वे हेय ही समझते थे।

इसी प्रकार उन्होंने अँग्रेजी अनुवादों की आवश्यकता को भी अनुभव किया एवं स्वयं भी तथा अन्य लेखकों के द्वारा भी किये गये अनुवादों को वे बराबर सरस्वती में प्रकाशित करते रहे। वे नवीन ज्ञान का सदा स्वागत करते थे और उन्हें इस बात का लेशमात्र भी विचार नहीं था कि वह किस दिशा से आया था। ज्ञान पर और उपयोगी ज्ञान पर किसी भी जाति या देश विशेष का स्वत्वाधिकार नहीं है, वह तो मनुष्यमात्र की सम्पत्ति है, ऐसा उनका विश्वास था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके इस उदार विचार से हिन्दी में अनेक नवीन विषयों की चर्चा आरंभ हो गई।

द्विवेदी जी ने देश में दिनोदिन बढ़ती हुई राष्ट्रीयता में भी पूरा-पूरा योग दिया। भारत के संबन्ध में जहाँ कहीं भी जो कोई महत्वपूर्ण बात मिलती थी, उस पर वे बराबर सरस्वती में लिखा करते थे। यद्यपि वे राजनीति के सक्रियात्मक कार्यों में भाग नहीं लेते थे, परन्तु देशवासियों या हिन्दी भाषा-भाषियों को वे बराबर उनके प्राचीन महत्व की अनुभूति कराते रहते थे। इस प्रकार उन्होंने आत्मगरिमा का भाव जागृत किया ; किन्तु

साथ ही साथ वे यह भी बराबर बताते रहते थे, कि समाज और देश में कौन कौन सी हानिकारक कुरीतियाँ फैली हुई हैं। इस प्रकार उन्होंने देश में एक संतुलनात्मक दृष्टि का विकास किया। आगे चलकर उनके शिष्य मैथिलीशरणगुप्त ने इन्हीं विषयों पर 'भारतभारती' लिखी। इन्होंने हिन्दी में प्रकाशित साहित्य को भी एक आलोचनात्मक दृष्टि से जनता के सामने रखने के कार्य का समारंभ किया। सरस्वती के स्तम्भों में वे नवीन पुस्तकों की आलोचना बराबर किया करते थे। यद्यपि ये आलोचनाएँ अधिकतर परिचयात्मक ही हुआ करती थीं, फिर भी कम-से-कम इस रूप में पुस्तकों का परिचय वे अवश्य करा देते थे, जिससे पाठक यह निर्णय कर सकें कि वे पाठ्य हैं अथवा नहीं।

द्विवेदी जी का मुख्य काय गद्यशैलीकार की दृष्टि से यही है कि उन्होंने भाषा को व्यवस्थित किया, उसे व्याकरण-संगत किया, शब्दों की अनेक रूपात्मकता को समाप्त किया, वाक्य रचना की अपनी पद्धति स्थिर की, शब्दों के प्रयोग में प्रान्तीयता तथा एक-देशीयपन को हटाया, शैली से काव्यात्मकता दूर की, गद्य लेखन में व्यर्थ की मुहावरेबाजी को समाप्त किया तथा हिन्दी लेखकों को विषय के वैज्ञानिक प्रतिपादन की शैली का ज्ञान कराया।

उनके संबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सर्वथा सत्य है "यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गये और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।"

———

प्रेमचन्द

(१८८०—१९३६)

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी का नाम हिन्दी में स्मरणीय है। उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य में एक नए युग का आरंभ ही नहीं किया, अपितु उसकी रूपरेखा भी प्रस्तुत की तथा उसे एक दृढ़ आधार दिया। उनके पहले हिन्दी का कथा साहित्य रिक्त और सूना था। कुछ उर्दू, बंगला तथा अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवादों तथा कुछ बहुत ही सामान्य कोटि के उपन्यासों को—जो जीवन की वास्तविकता से दूर थे छोड़कर उसमें था ही क्या? कुछ लोगों का तो विचार है कि तुलसी के उपरान्त हिन्दी के किसी भी साहित्यकार ने इतनी सर्वविश्रुत ख्याति प्राप्त नहीं की जितनी प्रेमचंद जी।

प्रेमचन्दजी ने ३०० से ऊपर मौलिक कहानियाँ और लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं। उपन्यास कला पर भी उन्होंने अपने विचार कुछ लेखों में व्यक्त किये हैं। उनकी कहानियों के संग्रह मानसरोवर के नाम से चार भागों में छपे हैं। उपन्यासों में सेवासदन, निर्मला, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, रंगभूमि, गबन तथा गोदान एवं कर्मभूमि बहुत प्रसिद्ध हैं। यदि केवल परिमाण की दृष्टि से ही देखा जाय, तो भी प्रेमचन्द का स्थान बहुत ऊँचा है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी लेखक का महत्व उसकी रचनाओं के परिमाण पर निर्भर न होकर, रचनाओं के गुणों पर निर्भर होता है। प्रेमचन्द की रचनाओं में ऐसे गुण

भरपूर मात्रा में हैं। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की प्रमुख विशेषता उनका जीवन संबन्धी विस्तृत ज्ञान है। उन्हें किसी एक ही वर्ग विशेष का ज्ञान नहीं है परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनको गति और प्रवेश है। उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों के पात्र जीवन के सभी क्षेत्रों से चुने हैं। राजा, रईस, गरीब अमीर, सरकारी अमले, मध्यवर्गीय व्यापारी, साधु-सन्यासी, पंडे पुजारी आदि सभी उनकी कथाओं में आये हैं। प्रेमचन्द ने कहीं भी यह दिखाने का प्रयास नहीं किया है कि उन्हें होना कैसा चाहिये। जो जैसा है, समाज में जिसका जैसा रूप है, वही उन्होंने दिखाने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द जी की दृष्टि हिन्दी के दूसरे लेखक की भाँति भूतकाल की ओर नहीं गई है। वे सदा वर्तमान का चित्रण और विश्लेषण करने में ही लगे रहे। हाँ, कहीं कहीं उन्होंने भविष्य के लिये सुखद कल्पनाएँ अवश्य की हैं।

परन्तु समाज के इस विश्लेषण में प्रेमचन्द जी का एक उद्देश्य भी था। समाज की विषमताएँ और पाखंड उन्हें खलते थे। देश के निम्नवर्गों की दरिद्रता, अज्ञानजनित कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ, धर्मध्वजों और पाखंडियों का समाज के सीधे और सरल प्राणियों को ठगना, मध्यवर्गीय व्यापारियों तथा सरकारी कर्मचारियों का पूँजीपतियों का ऐजेन्ट बनकर समाज में दुराचार और अन्याय फैलाना उन्हें खलता था। अतः अपनी रचनाओं में उन्होंने समाज की इस मनोवृत्ति का तीव्र विरोध किया है। इस विरोध में कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक कटुता भी आ गई है। कुछ लोगों ने उन्हें ब्राह्मण-विरोधी और न जाने क्या क्या कहा है। कई आलोचक उन्हें केवल प्रचार-वादी ही मानते रहे और उनकी रचनाओं में उन्होंने कलात्मकता

कम ही देखी। परन्तु प्रेमचन्द जी ने कभी भी इसकी चिन्ता नहीं की। वे एक अटल और निश्चल साधक की भाँति साहित्य-साधना के कार्य में अनवरत लगे रहे।

यही कारण है कि प्रेमचन्द जी का साहित्यिक यश समय और स्थान की सीमाएँ पार कर गया। प्रेमचन्द जी के पहले तक हिन्दी ने कथा-साहित्य में प्रादेशिक तथा विदेशी भाषाओं से ऋण लिया था, परन्तु प्रेमचन्द ने उस ऋण को चुकाया। उनकी कहानियों तथा उपन्यासों के अनुवाद भारत की प्रादेशिक भाषाओं में ही नहीं हुए, अपितु कितनी ही विदेशी भाषाओं में भी हुए। किसी भी अन्य वर्तमान हिन्दी साहित्यकार को यह गौरव प्राप्त नहीं हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखकों और आलोचकों ने भी प्रेमचन्द की रचनाओं के इस गुण को स्वीकार किया कि उनके माध्यम से हम वर्तमान भारतीय जीवन को देख और समझ सकते हैं।

प्रेमचन्दजी की शैली भी हिन्दी में कथा-साहित्य के लिए अनुकरणीय हुई। यद्यपि इन्होंने अपने प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में उर्दू के क्षेत्र में साधना की थी, पर पीछे से जब वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षेत्र में आए, तो शैली का उर्दूपन इन्होंने सर्वथा त्याग दिया। इन्होंने सर्वथा हिन्दी की प्रकृति और परम्परा से मेल खाती हुई शैली को अपनाया। किसी भी प्रकार का चुलबुलापन, असंयम या शब्दों से खिलवाड़ देखने को नहीं मिलते। भाषा सर्वत्र सधी हुई, संयत और भावों तथा विचारों की आवश्यकता के अनुकूल है।

इनकी शैली को अधिकतर वर्णनात्मक ही कहा जायगा। परन्तु इनके वर्णन सूखे और नीरस नहीं हैं। अवसर के अनुकूल

शैली वर्णनात्मक या रसात्मक हो जाती है। जहाँ किसी प्रसंग का एक साधारण और तटस्थ दृष्टि से वर्णन करना होता है, वहाँ शैली साधारण रूप में वर्णनात्मक तथा वस्तुस्थिति का ज्ञानमात्र कराने वाली होती है। परन्तु जहाँ किसी प्रकार का भावोद्रेक करना होता है, वहाँ वह पूरी प्रकार से रसात्मक हो जाती है। इनकी वर्णनात्मक शैली का एक उदाहरण लीजिए—

"दाऊद विद्वान् और साहसी भी था। वह अपने इलाके में कदम न जमने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रान्तों से आकर उसके शरणागत होते थे। वह बड़ी उदारता से उनका पालन पोषण करता था। मुसलमान उससे सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उस पर विजय न पाकर उसे शस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे। पर दाऊद उनका सामना न करता था। हाँ! जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसलमान होने की खबर पाता, वहाँ हवा की तरह पहुँच जाता और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अटल रहने की प्रेरणा करता था।"

परन्तु जब उन्हें किसी प्रकार का रसोद्रेक करना इच्छित होता है, तो उनकी शैली में अवसर के अनुकूल पूरी पूरी रसात्मकता आ जाती है। यथा—"दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़ा। अरब की भारी तलवार ईसाई की हल्की कटार के सामने शिथिल हो गई। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछल कर अरब के अंतस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।"

प्रेमचन्दजी की शैली की एक बड़ी विशेषता वे सूक्तियाँ हैं जो उनकी कहानियों में यत्रतत्र बिखरी रहती हैं। वे उनके गम्भीर और व्यापक अनुभव की सूचक है यथा—

"बस्ती का जन-बाहुल्य स्वयं आड़ है।"

"रास्ते की थकान घर पहुँचने पर मालूम होती है।"

यों तो प्रेमचन्दजी ने सर्वत्र मिलीजुली बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु जहाँ उन्हें मुसलमान या अँग्रेज पढ़े-लिखे पात्रों की योजना करनी पड़ती है, वहाँ वे उर्दू या बोलचाल के अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग मुक्त रूप से करते हैं। यथा—"मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़ कर दुनिया के साथ अपनी आकबत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन मैं अपने हाथों बिगाड़ूँ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है, पर सब्र करूँगा, ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ, घर में आ। आ, तेरा पीछा करने वाले दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे तो मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी। तू नहीं जानता कि अरब लोग खूनी को कभी माफ नहीं करते।"

पात्रों की मनःस्थिति तथा उनकी अवस्था के अनुकूल भाषा लिखने में प्रेमचन्दजी सिद्ध हस्त थे।

जयशंकर प्रसाद

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, गीतिकाव्य, महाकाव्य, निबन्ध आदि उन्होंने लिखे। उन्होंने जो कुछ भी लिखा, सभी उत्तम और श्रेष्ठ कोटि का है। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं के लिखने का परीक्षण मात्र कियाथा। उनके सम्बन्ध में तो यही कहना उचित होगा कि उनमें सर्जना सम्बन्धी शक्ति और प्रतिभा ही इतनी अधिक थी कि वह अनेक धाराओं में स्वतः ही फूट पड़ी। साहित्य के आलोचक को यह निर्णय करना थोड़ा कठिन होगा कि साहित्य के किस क्षेत्र में उन्हें अधिक प्रसिद्धि तथा सफलता मिली। यह भी निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता कि उनके पहले के या बाद के किसी भी अन्य हिन्दी लेखक ने साहित्य की इतनी विधाओं की रचना नहीं की। इस दृष्टि से कुछ लोग उनकी तुलना रवीन्द्र-कवीन्द्र से करते हैं।

फिर भी यह सरलता से माना जा सकता है कि हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अभूतपूर्व हैं। उनके आने के पूर्व नाटकों का क्षेत्र तो रीता ही पड़ा था। 'विशाख', 'राज्यश्री', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटक लिखकर उन्होंने हिन्दी में नाटक-

लेखन को आगे बढ़ाया और उसे एक नई प्रेरणा दी। साहित्य के अन्य क्षेत्रों में उनके कार्य की तुलना अन्य लेखकों से हो सकती है, पर नाटकों के क्षेत्र में तो वे एकांकी ही हैं। उनके नाटकों का महत्व दिखाने के लिए अनेक पुस्तकें लिखी गईं और उनके द्वारा हिन्दी में नाटक कला की चर्चा व्यापक हुई।

प्रसादजी मूलतः कवि थे। उनकी भावनाएँ बड़ी ही कोमल और काव्यात्मक थीं। अतः उनकी शैली पर सर्वत्र उनकी काव्यात्मकता का छाप है। अपने नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में जहाँ कहीं भी उन्हें अनुकूल अवसर मिला है, उन्होंने शैली को सदैव काव्यमय करने का प्रयास किया है। यथा—'अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था।'

एवं 'एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलधि के ऊपर एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ।'

इसके साथ ही साथ कहीं शैली में अलंकरण और चमत्कार प्रदर्शन का प्रयत्न भी मिलता है। पर उसका उद्देश्य केवल खिलवाड़ करना न होकर, पाठक तक अपने भावों और विचारों को सुन्दर से सुन्दर रूप में पहुँचा देने का सहज प्रयत्न मात्र है। यथा—'इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त जल में डूब कर बुझ जाऊँ?'

अपने नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सर्वत्र ही उनकी शैली में पूरी पूरी प्रसादात्मकता झलकती है। किसी भी भाव को उद्बुद्ध कर देने की क्षमता उनकी लेखनी में सर्वत्र दिखाई

पड़ती है। लेखक की शक्ति तथा साहित्य के लेखक की—प्रतिभा भी इसी बात में दिखाई पड़ती है कि जो भाव वह स्वयं अनुभव कर रहा है या उसका कोई पात्र कर रहा है, उसे पाठक के हृदय में भी उतार दिया जाय। यथा—"बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—'चम्पा! हम लोग जन्मभूमि भारत से इतनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता; जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्रकांतमणि की तरह द्रवित हुआ।"

किसी भी व्यक्ति की भावानुकूल भाषा से हमें उसकी मनः-स्थिति का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है और हममें तदनुकूल रसोद्रेक भी हो सकता है, परन्तु यदि हमारे सामने उसकी उपस्थिति भी हो तो यह कार्य अधिक सरलता से हो सकता है। कुशल कलाकार यह कार्य मुद्रा-चित्रण से किया करते हैं। प्रसादजी ने अपने उपन्यासों एवं कहानियों में कितने ही स्थानों पर इस प्रकार का मुद्रा चित्रण किया है। यथा—"घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छाया-चित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयःसन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके पलकों की आड़ में छिप जात तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल विधवा

है।" इसके साथ ही वे कभी कभी पात्र के वातावरण का चित्रण भी बड़ी ही कुशलता से करते थे। वातावरण के चित्रण से भी पात्र की मनःस्थिति समझने में वही सहायता मिलती है, जो उसके मुद्रा-चित्रण से। इन कारणों से ही प्रसाद की शैली अत्यन्त प्रसादात्मकता को लिये हुए है। यथा—"सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण-बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालाएँ बना रही थीं। और वे मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत सा मुखरित होता था।"

शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कहीं कहीं लेखक ने कुछ नाटकीय उपकरणों की भी सहायता ली है। इसका अभ्यास उन्हें नाटक लिखने के द्वारा भी हो गया था। उपन्यासों और कहानियों में जहाँ इस प्रकार का नाटकत्व आया है, वहाँ शैली में एक चमत्कार पैदा हो गया है। इसका उदाहरण दे देना ठीक होगा।

"दूसरे वंदी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया। सहसा उस वंदी ने कहा 'यह क्या? तुम स्त्री हो।'

'क्या स्त्री होना कोई पाप है?' अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

परन्तु जहाँ प्रसादजी ने नाटकों एवं उपन्यासों आदि के क्षेत्र को छोड़ कर किसी विषय का शास्त्रीय विवेचन किया है, वहाँ शैली में यह प्रसादात्मकता लुप्त हो गई है। वहाँ उनकी शैली मुख्यतः विश्लेषणात्मक तथा चिन्तन प्रधान है। यथा 'अर्थ बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द शास्त्र में

पर्य्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का महात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए।

प्रसादजी संस्कृत प्रधान भाषा लिखने के ही पक्ष में थे। यह ठीक है कि उनकी संस्कृत समास-बहुला नहीं है। फिर भी नाटक, उपन्यास तथा कहानियाँ आदि तो पाठकों के एक विस्तृत वर्ग के लिए लिखी जाती हैं, उनमें संस्कृत बहुला-भाषा एक बाधा ही होती है। विशेष-कर नाटकों में तो यह दोष और भी खटकता है। दर्शकों में सभी वर्गों के लोग रहते हैं और यदि भाषा की कठिनता के कारण अर्थ प्रतीति में बाधा पड़ती है, तो यह दोष कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसाद की रचनाओं में यह दोष कहीं कहीं खटकता है। हिन्दी के कितने ही विद्वानों ने प्रसाद के अति संस्कृतमयी भाषा के आग्रह की ओर संकेत किया है।

श्यामसुन्दरदास

द्विवेदी युग की समाप्ति के आसपास जब पढ़ी-लिखी जनता में हिन्दी का काफी प्रचार और प्रसार हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी की उन्नति ने भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, तो विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में भी हिन्दी के अध्ययन और अध्यापन की माँग उठ खड़ी हुई। बाबू श्याम सुन्दरदास इस भावी माँग का अनुभव बहुत पहले से कर रहे थे। अतः सन् १८६३ में ही काशी-नागरी-प्रचारणी सभा की स्थापना करके, 'हिन्दी शब्द-सागर' की रचना का आरम्भ करके, खोज कार्य की व्यवस्था करके तथा मनोरंजन पुस्तक माला में उपयोगी विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन कार्य करके, वे हिन्दी के भावी विकास के महायज्ञ में लगे हुए थे।

अपनी सेवाओं, कार्यपरायणता तथा हिन्दी के प्रति अनन्य अनुराग से सच्ची ख्याति प्राप्त करके तथा अपने साहित्यिक कार्य के एक युग को समाप्त करके, विश्वविद्यालयों में हिन्दी के प्रवेश के साथ ही साथ वे एक दूसरे कार्य क्षेत्र में उतरे।

इस समय हिन्दी की मुख्य आवश्यकता थी उसमें ऐसे विषयों पर पुस्तकों की रचना करना जो विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के हाथ में दी जा सकें। अतः इस युग में हम बाबू साहब को एक सर्वथा नवीन कार्य में संलग्न पाते हैं। 'भाषाविज्ञान', 'साहित्यालोचन', 'रूपकरहस्य' आदि

सर्वथा नवीन विषयों पर इन्होंने पुस्तकें प्रस्तुत कीं । यह वह युग था जब इन विषयों पर हिन्दी वालों को कुछ भी ज्ञान नहीं था । यह हो सकता है कि आगे चलकर इन विषयों पर लिखे जाने वाले ग्रन्थों की तुलना में बाबू साहब की ये पुस्तकें अधिक महत्व की सिद्ध न हों और यह भी हो सकता है कि उनमें अनेक स्थानों पर इस विषय की अँग्रेजी पुस्तकों से सहायता ली गई हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी की जिस स्थिति में इन ग्रन्थों की रचना हुई उन्हें देखते हुए, इन ग्रन्थों को तथा उनके पीछे छिपे प्रयत्नों को सर्वथा स्तुत्य कहना पड़ेगा ।

हिन्दी के पाठ्य विधान की योजना करने के साथ ही साथ इन्होंने हिन्दी के महत्व को भी बराबर ऊँचा उठाया । पढ़े लिखे लोगों के बीच अँग्रेजी के स्थान पर नित्य प्रति के व्यावहारिक कामों के लिए, हिन्दी को स्थान दिला देने में लेखनी ने सचमुच में बड़ा स्तुत्य कार्य किया । विश्वविद्यालय में भी एक ओर जहाँ हिन्दी के हितों का ये सदा आग्रह करते रहे, वहाँ दूसरी ओर अपने विद्यार्थियों को भी प्रोत्साहन और प्रेरणा के द्वारा ये कुछ लिखने के लिए कहते रहे । कुछ लोगों का तो यह कहना है कि भारतेन्दु के पश्चात् अपने व्यक्तिगत प्रभाव और संसर्ग से इन्होंने ही लेखकों को सबसे अधिक प्रेरणा दी ।

बाबू साहब के साहित्य-सेवा-युग में हिन्दी में अनेक वाद-विवाद या वितण्डावाद छिड़े । दलबन्दियाँ हुई । परन्तु बाबू साहब उनसे सदा दूर ही रहे । यह उनकी शालीनता और संयम का अकाट्य प्रमाण है । सूर और तुलसी, देव और बिहारी पर जो झगड़े चले, उनसे बाबू साहब सदा दूर ही रहे ।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब 'सरस्वती' का प्रकाशन

आरम्भ हुआ, तो बाबू साहब भी उसके सम्पादक मण्डल में थे। बाबू साहब के सम्पादन में निकलने वाली 'सरस्वती' के पृष्ठों के अनुशीलन से पता चलता है कि जब वे सामान्य जनता या पाठकों के लिए लिखते थे—तो साहित्यिक के अतिरिक्त उनकी दृष्टि और विषयों की ओर जाती थी और वे कुछ रोचक भाषा में भी लिख सकते थे। परन्तु साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर इनके लेख बहुत ही थोड़े हैं। उनका प्रिय विषय साहित्य ही था।

बाबू साहब आजीवन एक अध्यापक रहे। अतः उनके लेखों से उनका अध्यापकत्व बराबर प्रतिध्वनित होता है। किसी भी विषय को चाहे वह कितना भी कठिन और क्लिष्ट क्यों न हो ये बहुत ही सरल और सुबोध रूप में समझाने की क्षमता रखते थे। किसी भी विचार को ये एक पैराग्राफ में उठाते थे और अधिकतर उन पैराग्राफों के भी उपशीर्षक देते चलते थे। उस पैराग्राफ में आये विचारों को भी ये इतने क्रमबद्धरूप में सजाते थे कि विद्यार्थी को उन विचारों को ग्रहण करने में यत्किंचित् भी कठिनाई नहीं होती थी।

प्रायः एक ही मूल वाक्य के साथ जुड़े अनेक उपवाक्य लिखना भी इन्हें अधिक प्रिय नहीं था। वाक्य अधिकतर छोटे-छोटे होते थे। ये छोटे वाक्य भी सूत्रशैली में नहीं होते थे जिससे एक ही वाक्य को लेकर विद्यार्थी को देर तक उनसे जूझना पड़े। समास और विस्तार का उचित संतुलन इनके लेखों में मिलता है। एक सफल अध्यापक के नाते इन्हें इस बात का ज्ञान था कि कौन बात कितने शब्दों में कहनी चाहिये। इस दृष्टि से ये एक मध्य-मार्गीय लेखक थे।

विषय के कठिन होने पर ये कभी कभी उसे स्पष्ट करने के लिए उपमा आदि का सहारा भी ले लेते थे। पर ऐसा इनकी रचनाओं में बहुत ही कम हुआ है। जो उपमाएँ दी भी गई हैं वे अधिकतर विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए ही। उनसे शैली के अलंकरण का प्रयास कहीं नहीं झलकता। बाबू साहब की उपमाएँ कवि की न होकर एक वैज्ञानिक की हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—"जो कुछ हम देखते हैं वह हमारी वास्तविक परिस्थितियों से बहुत दूर है। पर क्या बात है कि हम उससे प्रभावित होते हैं? बात वही है जो एक चित्र के देखने पर होती है। नाटक भी एक प्रकार का चित्र ही है। वह ठीक चित्रकला के नियमों का पालन करता है। चित्र छोटे से छोटे आकार में बड़े से बड़ा बोध करा सकता है। प्रत्येक रेखा से एक अनोखी व्यंजना हो जाती है। वही कला का सत्य है। यही काव्य का भी सत्य है।" यहाँ नाटक की चित्र से तुलना कर लेखक ने अपने विवेचन को स्पष्ट कर दिया है।

थोड़ी भी यत्रतत्र बिखरी हुई उपमाओं को छोड़कर बाबू साहब की शैली में कहीं भी कोई रसात्मकता नहीं मिलेगी। वह ज्ञान, तर्क एवं विवेचन प्रधान है। उसका रूप प्रज्ञात्मक है। उसमें कहीं भी हमारे रागों, मनोविकारों या भावों को उद्दीप्त करने की चेष्टा नहीं की गई है। वास्तव में शुद्ध तर्कपूर्ण शैली के बीच लेखक यदि ऐसा प्रयास भी करता है तो दो दृष्टियों से। कभी-कभी किसी विषय को तर्कपूर्ण रीति से न समझा सकने के कारण और कभी-कभी विचारों की गम्भीरता से पाठक को विश्राम देने के लिए। परन्तु बाबू साहब ने दोनों में से किसी भी उद्देश्य के लिये इन साधनों का उपयोग नहीं किया है।

इनकी रचनाओं में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत ही

थोड़ा हुआ है। जो शब्द काम में लिये भी गये हैं वे बहुत ही चलते हैं। इन्होंने उर्दू फारसी शब्दों को उनके मूल उच्चारण के अनुरूप न लिखकर उसी रूप में लिखा है जिस रूप में वे साधारणतया लिखे जाते हैं। इस सम्बन्ध में इनका सिद्धान्त था कि विदेशी शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये कि वे भाषा में खप जायँ और उसकी प्रकृति से एकाकार हो जायँ। उन्होंने लिखा है—

"जब हम विदेशी भाषाओं के साथ-साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर, हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपने इस सिद्धान्त का सर्वत्र पालन किया है। बाबू साहब के लेखों और ग्रन्थों में मुहावरों का प्रयोग भी नहीं हुआ है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि इन्होंने शुद्ध शास्त्रीय विषयों पर लिखा है। साहित्य के द्वारा मनोरंजन करना इनका उद्देश्य नहीं रहा है। उनकी रचनाएँ सामान्य पाठकों के लिये नहीं है। अतः भाषा के अलंकरण से सर्वथा दूर यह महान् लेखक भाषा सम्बन्धी किसी भी वितण्डा-वाद में नहीं पड़ा है। उसे हिन्दी की व्यंजक शक्ति से खिलवाड़ करने की कभी भी इच्छा नहीं रही है। उनका साहित्य एक साधक साहित्य है। अतः हल्कापन या छिछोरापन उनके लेखों से कहीं भी नहीं टपकता। साहित्य उनके लिये ज्ञान-योग है।

———

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी के काव्य समीक्षकों तथा साहित्य के इतिहास लेखकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम सर्वोपरि है। शुक्लजी के पहले आलोचना अपने शैशवकाल में थी। उस आलोचना में कुछ तो रीतिकाल की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं, अलंकार, गुण, दोष आदि दिखाये जाते थे अथवा कुछ बाहरी बातों की विवेचना की जाती है। कवि की अन्तर्प्रवृत्तियों की व्याख्या जिससे उसके काव्य का सच्चा स्वरूप समझ में आ सके, हिन्दी में थी ही नहीं। विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी के अध्ययन और अध्यापन का विधान हो जाने पर तो यह कमी और भी खटकने लगी। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा ही यह कार्य संपादित हुआ। सूर, तुलसी और जायसी पर उनकी लिखी पुस्तकाकार समीक्षाएँ हिन्दी के गौरव की वस्तु हैं। उन्हीं के मार्गदर्शन द्वारा हिन्दी में पुस्तकाकार समीक्षाएँ लिखने की प्रथा चल निकली और इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास का भी पहले पहल शुक्लजी द्वारा ही प्रणयन हुआ। सात सौ आठ सौ वर्षों की विशाल तथा अव्यवस्थित सामग्री का पहले पहल उन्होंने ही क्रम बद्ध निरूपण और विवेचन किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाग किया और प्रत्येक काल

की विशेषताएँ निरूपित कीं। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी के कवियों के अध्ययन का मार्ग निकाला और साहित्य के विद्यार्थियों के सम्मुख वह आधार प्रस्तुत किया जिसकी सहायता से किसी युग विशेष में पड़ने वाले कवियों के अध्ययन का एक सर्वसम्मत मार्ग निकला।

इसके साथ ही साथ उन्होंने ही रस सम्प्रदाय की हिन्दी में पहले पहल प्रतिष्ठा की। काव्य में चमत्कारवाद को प्रधान बनाने वालों का निराकरण किया तथा काव्य के रूपस्पष्टीकरण द्वारा कुछ ऐसी मान्यताएँ स्थापित कीं जिनके आधार पर सत्काव्य का स्वरूप परखा जा सके। अपने इस काव्य-विवेचन में शुक्ल जी ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्होंने प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों की व्याख्या नवीन से नवीन पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों की समकक्षता में की जिसके कारण सभी क्षेत्रों में उनकी अगाढ़ विद्वत्ता के प्रति श्रद्धा बढ़ी।

आलोचना और साहित्य के इतिहास के साथ ही साथ शुक्ल जी ने बहुत से गम्भीर मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे। लज्जा, श्रद्धा, क्रोध, उत्साह आदि पर उनके निबन्ध बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इन निबन्धों के लिखने में भी शुक्ल जी का उद्देश्य यही था कि साहित्य में तथा साहित्य की आलोचना में व्यापक रूप से व्यवहृत इन शब्दों का रूप स्पष्ट हो जाय। इन निबन्धों को देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कठिन विषयों के होते हुए भी गम्भीर चिन्तन और मनन के कारण, उनका रूप कितना स्पष्ट हो गया है। यथा 'प्रेम और श्रद्धा' में अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं

है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो।"

ऊपर की पंक्तियों के अनुशीलन से प्रेम और श्रद्धा का भेद स्पष्ट हो जाता है।

जिस प्रकार एक योगी सब ओर से ध्यान मोड़कर आत्म-चिन्तन में लीन हो जाता है, ठीक इसी प्रकार शुक्ल जी भी किसी विषय का चिन्तन करते समय आत्मस्थ हो जाते हैं। इस अवस्था में वे विषय में इतने गहरे उतर जाते हैं कि उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता कि वे किस प्रकार के पाठक के लिए लिख रहे हैं। श्यामसुन्दरदास जी की शैली से यदि उनका अध्यापकत्व झलकता है तो शुक्ल जी की शैली से उनका आचार्यत्व।

यही कारण है कि उनमें कहीं भी विस्तार-प्रियता या व्याख्यात्मकता नहीं मिलती। उन्हें जो कुछ कहना है उसे थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कह देना ही उनका प्रधान उद्देश्य रहता है। अतः जिस प्रकार अँग्रेजी लेखक एमरसन के लेखों में एक एक वाक्य इतना अर्थ गर्भित होता है कि उस पर स्वतन्त्र रूप से एक एक निबन्ध लिखा जा सके, यही दशा शुक्ल जी द्वारा लिखित बहुत से वाक्यों की है। यथा—

'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है'

'श्रद्धा महत्व की आनन्द पूर्ण स्वीकृति है'

कहने की आवश्यकता नहीं इस प्रकार के सूत्र वाक्य उनकी

रचनाओं में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। शुक्ल जी के व्यक्तित्व की गम्भीरता इन लेखों और सूत्रों में सर्वत्र ही झलकती है।

इस प्रकार के गूढ़ मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर लिखने की परंपरा या प्रथा हिन्दी में पहले न होने से, उन पर लिखते समय शुक्ल जी को शब्दावली का भी निर्माण करना पड़ा। इस सम्बन्ध में उन्होंने इसी रीति को अपनाया कि जहाँ तक उन्हें प्राचीन और हिन्दी या संस्कृत साहित्य में व्यवहृत शब्द मिले, वहाँ तक तो उन्होंने उन्हें अपनाया और उनका उद्धार किया तथा शेष के लिए शब्दावली का निर्माण किया। इस क्षेत्र में शुक्ल जी की शक्ति और योग्यता का आभास उनके अनुवादित ग्रन्थ 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका से हो सकता है।

हिन्दी की व्यंजना शक्ति को बढ़ाने में भी शुक्ल जी ने स्तुत्य कार्य किया। उनकी व्यंजना के कुछ उदाहरण देखने से ही यह बात स्पष्ट हो सकती है। इस नयी व्यंजना पद्धति में कहीं-कहीं अँग्रेजी की भी छाया है, पर वह हिन्दी के अनेक आलोचकों और गम्भीर विषयों के लेखकों द्वारा अनुकृत हुई। यथा—"इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता।

अतः ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य को नई नई मार्मिक अर्थ भूमियों की ओर वह बढ़ेगा।"

शुक्ल जी ने जिन विषयों पर लिखा वे कठिन और शास्त्रीय हैं। अतः उनकी भाषा में स्वभावतया संस्कृत की शब्दावली

अधिक व्यवहृत हुई है। परन्तु संस्कृत शब्दों के व्यवहार में भी शुक्ल जी का एक सिद्धान्त था। जहाँ तक सीधे सादे शब्द मिलते थे, वे उन्हीं का प्रयोग करते थे। स्थिरता, सुन्दरता, मृदुता आदि उन्हें स्थैर्य, सौन्दर्य तथा मार्दव से अधिक प्रिय थे। इसी प्रकार तद्भव शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने बिना किसी संकोच के किया है और यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे बहुत से बोलचाल के शब्द भी शास्त्रीय व्याख्या में बराबर व्यवहृत हो सकते हैं। उन्हें हिन्दी की प्रकृति और शक्ति का पूरा पूरा ज्ञान था।

शुक्लजी ने उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है परन्तु कम और किसी विशेष उद्देश्य से। अपने लेखों में गम्भीर चिन्तन से कुछ विराम लेने और मनोविनोद के लिए अथवा हल्का सा कटाक्ष या व्यंग्य करने के लिए। कुछ उदाहरणों से उनकी यह मनोवृत्ति स्पष्ट हो जायगी। यथा—"एक और बात जरा खटकती है। वह है उनकी भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू ए-मुअल्ला। इसी शौक के कुछ आगे पीछे उन्होंने 'राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित्र लिखा'...तथा 'खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया"

शब्दों के प्रयोग में भी वे इतने सावधान थे कि सदा ही उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्द रखते थे। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की अद्भुत छाप थी। यही कारण है कि यदि उनके किसी भी लेख से कुछ पंक्तियाँ उठाकर अलग रख दी जायँ, तो वे पुकार कर कह उठेंगी कि हम शुक्लजी की लिखी हैं।

शुक्लजी जैसे लेखक को पाकर हिन्दी गौरवान्वित हुई।

वियोगी हरि

हिन्दी के वर्तमान लेखकों में अपनी विशिष्ट सेवाओं और विशिष्ट शैली के कारण श्री वियोगी हरि बहुत प्रसिद्ध हैं। पर राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में बहुत व्यस्त रहने के कारण वे अधिक साहित्यिक कार्य नहीं कर पाए हैं। फिर भी यह निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि आज जीवन में ब्रजभूमि और ब्रजकाव्य की मधुरिमा बनाए रखने में उनकी लेखनी ने बड़ा योग दिया है। उनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन सर्वथा सत्य है—"श्री वियोगी हरि ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रुखे जमाने में कम दिखाई पड़ते हैं।, इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्णभक्त कवियों की पद्धति पर बहुत से रसीले तथा भक्ति-भाव पूर्ण पदों की रचना की है जिन्हें सुनकर आजकल के रसिक भक्त भी 'बलिहारी हैं!' बिना कहे नहीं रह सकते।"

वियोगी हरि जी प्रधान रूप से कवि ही हैं और वह भी ब्रजभाषा के। इन्हें ब्रजभाषा के सुन्दर काव्य की जितनी परख है उतनी ही शक्ति स्वयं ब्रजभाषा में रचनाएँ करने की भी। इनके संग्रहित या संपादित ग्रन्थ 'ब्रजमाधुरी सार' से आज के खड़ी बोली प्रधान युग में भी ब्रजभाषा की अच्छी चर्चा हुई है। इनकी ब्रजभाषा की कृष्ण प्रेम परक कविताएँ 'प्रेमशतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमांजलि' में संग्रहित हैं।

ब्रजभाषा के कवि होने के साथ-ही-साथ इन्हें देश काल का भी पूरा परिचय है। ब्रजभाषा को भक्ति और प्रेम के अतिरिक्त विषयों की ओर लगाने का जो प्रयास स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न द्वारा किया गया था, उस कार्य को इन्होंने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर सतसई' में आगे बढ़ाया है। इसमें उनकी कल्पना अनेक अर्थ-भूमियों की ओर दौड़ती दिखाई पड़ती है। 'सतसई' होने के कारण अनेक स्थानों पर उन्होंने बिहारी के वाग्वैचित्र्य को भी अपनाया है। साथ ही साथ लोकमंगल की ओर भी उनकी दृष्टि गई है।

उन्होंने नाटक लिखने का भी कुछ प्रयास किया था, पर उसमें सफलता प्राप्त न होने से तथा अपनी प्रकृत प्रतिभा का झुकाव उस ओर न पाने से उन्होंने साहित्य की इस विद्या को छोड़ दिया।

गद्य के क्षेत्र में वियोगी हरि जी के दो रूप हैं। प्रथम रूप तो उनका भावात्मक तथा आध्यात्मिक गद्य गीतों के लेखक के रूप में हैं तथा दूसरा रूप 'हरिजन' में लिखने वाले का। परन्तु इनका दूसरा रूप प्रधान नहीं है। मुख्य रूप से ये पहले प्रकार के ही गद्य लेखक हैं।

भावात्मक गद्य लेखक में पहली अनिवार्य-बात यह होनी चाहिए कि उसमें सस्ती भावुकता न हो। अर्थात् भाव का कुछ आधार भी हो, उसका कुछ विषयगत रूप भी हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि वियोगीहरि जी के गद्य-गीतों में यह आधार न तो शिथिल हो पाया है और न लुप्त। वह इसी कारण सुग्राह्य है। इसके साथ-ही साथ उस भावात्मकता में लिपटी हुई एक आध्यात्मिकता भी मिलती है। यह आध्यात्मिकता न तो किसी

साम्प्रदायिक घेरे की है और न कहीं दूर से लाई हुई। जीवन के प्रकृत व्यापारों के बीच जो थोड़ी बहुत आध्यात्मिकता किसी भी समझदार या भावुक हृदय को आभासित होती है, वही इनके गद्य गीतों में उपलब्ध होती है। फिर भी भावुकता को उद्दीप्त करने वाले विषयों के वर्णन में उन्होंने एक मनमौजीपन का परिचय दिया है। यह मनमौजीपन बहुत कुछ भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों के मनमौजीपन से मिलता है। इनके गद्य-गीतों के संग्रह 'भावना' और 'अन्तर्नाद' नाम से छपे हैं।

भाषा की दृष्टि से भी ये किसी विशेष मान्यता में बँध कर चलने वाले जीव नहीं हैं। तरंग में जहाँ जो शब्द आया—फिर वह किसी भी भाषा का हो इन्हें लिखने में कदापि संकोच नहीं होता। यथा—"और तो और, आप पत्थर होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं! यह कहाँ की अकलमन्दी है! रसखानि! तुम्हारी ऐसी बे सिर पैर की बातें, यदि कोई पढ़ा-लिखा समझदार सुन ले तो क्या कहे? पर तुम्हें उन समझदारों से कोई मतलब नहीं।"

इनकी शैली की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि ये अपने निबन्धों के बीच-बीच में बहुत अधिक उद्धरण देते चलते हैं।

राय कृष्णदास

हिन्दी के वर्तमान लेखकों में राय कृष्णदास एक प्रतिष्ठित स्थान के अधिकारी हैं। इनकी प्रसिद्धि का आधार इनकी कहानियाँ, इनका भावात्मक तथा रहस्यात्मकता लिए हुए गद्य गीत एवं इनका कलाज्ञान हैं। बिना किसी संकोच के यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में कलाओं की—विशेषरूप से चित्रकला और मूर्तिकला की—चर्चा चलाने में इनकी लेखनी ने स्तुत्य योग दिया है। इसके साथ-ही-साथ काव्यकला का सामंजस्य अन्य ललित कलाओं के साथ बैठाने का जो प्रयत्न बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में किया था। उसकी सारी सामग्री भी राय कृष्णदास की ही कृपा का फल था। हिन्दी जगत् ने इन्हें उचित रूप से ही कलाविद् की उपाधि दी है। कला के ये किस प्रकार के लेखक हैं, यह विषय हमारे प्रकृत उद्देश्य से दूर है। परन्तु फिर भी इतना समझ लेना चाहिये कि अपने कला सम्बन्धी निबन्धों तथा पुस्तकों में उनकी शैली विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक है। 'अकबरी काल का हिन्दु पहनावा:' 'राम वन गमन का मार्ग' आदि इनके कुछ गवेषणात्मक निबन्ध हैं।

कला विवेचक और समीक्षक के उपरान्त उनकी प्रसिद्धि का दूसरा आधार उनका गद्य काव्य है। वर्तमान हिन्दी में गद्य-गीतों के लिखने का चलन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' के प्रभाव से हुआ। अनेक लेखकों ने गद्य-गीतों की रचना की।

परन्तु सफलता किसी को भी न मिली। कुछ गीतों में भावुकता अधिक थी और कुछ में आध्यात्मिक संकेत अस्पष्ट थे। परन्तु राय कृष्णदासजी के गद्य-गीतों में यह बात नहीं है। उनके गद्य-गीतों के संग्रह 'साधना', 'प्रवाल' और 'छायापथ' हैं। उनके एक गद्य-गीत 'तुम तो मेरे पास हो' से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि सीधे सादे वर्णनों के बीच उन्होंने कितने स्पष्ट आध्यात्मिक संकेत दिये हैं—

"मैं कुटी बंद करके आसन पर सगर्व बैठा था। उस कुटी को मैं विश्व समझता था और अपने को उसका महाराज! अपने मद में मैं चूर था।

न जाने कैसे तुम भीतर आगए। मंत्र-मुग्ध की भाँति आसन का एक कोना मैंने तुम्हारे लिये छोड़ दिया। तुम बैठ गये। मैं धीरे-धीरे खिसकने लगा। उस पर तुम्हारा अधिकार बढ़ने लगा। मैं भूमि पर आ गया। तुम आसन पर पूर्णतः आसीन हो गये।

मैं निर्निमेष नयनों से, अवाक् होकर, तुम्हारी सुन्दरता निरखने लगा। मुझे उसमें प्रतिक्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचंड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है' घन घोर घटा घिर कर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगता है। प्रलय काल उपस्थित होता है। पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता। क्योंकि तुम तो मेरे पास हो" इस गीत के अध्ययन से पता लग जायगा कि इनके गीतों में आध्यात्मिक अर्थ कितने सरल और स्पष्ट होते हैं।

आध्यात्मिकता का संकेत करने के लिए अनेक गद्य-गीतों में श्लेष का प्रयोग भी बड़ी प्रचुरता से हुआ है।

गद्य-गीतों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ कहानियाँ भी बड़ी सुन्दर लिखी हैं। इनकी कहानियों के संग्रह 'अनाख्या', 'सुधांशु' तथा 'आँखों की थाह' हैं। कहानियाँ अधिकतर भावात्मक एवं घटना प्रधान हैं। भावात्मक कहानियों में घटना-चक्र प्रायः नहीं के बराबर होता है। उनमें भावपूर्ण वस्तु-वर्णन ही प्रधान रहता है। घटना-प्रधान कहानियों में लेखक यथातथ्यवादी रहता है। इनकी कहानियाँ राजनीतिक या सामाजिक समस्याओं को लेकर कम लिखी गई हैं। अधिकांश कहानियों में गृहस्थ-जीवन के मधुर चित्र अंकित किए गए हैं। अतः उन कहानियों से मनोरंजन अधिक होता है और हमारे मन पर अनेक सुखद चित्र अंकित हो जाते हैं।

फिर भी राय कृष्णदास जी के गद्य-गीतों तथा कहानियों में थोड़ी बहुत काव्यात्मकता, अलंकरण और भावुकता सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। किसी सामान्य बात को भी वे इस ढंग से कहते हैं कि उसमें कुछ विशेषता उत्पन्न हो जाती है।

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"मैं रहरह कर यही बिलखता था कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ..."

संध्या का वर्णन देखिए—"प्रकृति ने आकाश पर कुंकुमा चलाया था वह उसके भाल पर गुलाल फैलाकर जाने कहाँ अदृश्य हो गया और अब वह प्रकृति उस पर चारों ओर बुक्का छींट रही है।"

राय कृष्णदास जी की शैली की एक बड़ी विशेषता है छोटे छोटे वाक्यों का लिखना। कुछ लेखक भाव की तरंग में बिना कुछ सोचे लिखते चलते हैं जिससे शैली में दुरूहता आ जाती है और

अर्थ स्पष्ट नहीं होते। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शैली की अत्यन्त-भावुकता से विचारात्मकता दब सी जाती है। परन्तु इनकी शैली इससे सर्वथा अछूती है। यथा "यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपने शौक की चीज बेचनी? कैसी उल्टी बात है। पर न जाने क्यों उस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य किया।"

रायकृष्ण-दास ने अधिकतर संस्कृत प्रधान शब्दावली को ही अपनाया है जो उनकी रुचि और संस्कार का फल है। परन्तु वह शब्दावली कठिन और दुरूह नहीं है। समस्त पदावली का तो इन्होंने कहीं भी आश्रय नहीं लिया है। कहीं कहीं ठेठ स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग किया है बगरना, बुक्का, छींटना, आदि शब्द भी इनके लेखों में मुक्त रूप से व्यवहृत हुये हैं। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, पर कम।

———

माखनलाल

हिन्दी के गद्य लेखकों में श्री माखनलाल चतुर्वेदी का नाम आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। स्कूलों और कालिजों में पढ़ाए जाने वाले गद्य-संग्रहों में उनका कोई लेख अवश्य सम्मिलित किया जाता है। वे मध्य भारत के प्रमुख साहित्यकार समझे जाते हैं। अतः स्वभावतः ही यह जिज्ञासा होती है कि उनके गद्य-लेखक-स्वरूप को समझा जाय और उनकी शैली का विश्लेषण किया जाय।

माखनलाल जी प्रमुखरूप से राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। देश की सक्रिय राजनीति में उन्होंने प्रमुख भाग लिया है और गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलनों में वे मध्य भारत के मुख्य सेनानी रहे हैं। मध्य भारत के सार्वजनिक जीवन को उन्होंने एक नई चेतना और प्राण दिए हैं। उन्होंने सैकड़ों व्याख्यान मंचों से अनेकानेक विषयों पर व्याख्यान दिए हैं तथा अपने प्रसिद्ध पत्र, 'कर्मवीर' के द्वारा सभी प्रकार की राष्ट्र के लिए लाभदायक योजनाओं में योग दिया है। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी जब हम यह जानना चाहते हैं कि उन्होंने गद्य के कौन से स्थायी ग्रन्थ हमें दिए हैं तो हमारे सामने एक बड़ा सा प्रश्न चिन्ह खड़ा हो जाता है।

यह सम्भव है कि सक्रिय राजनीति में भाग लेते रहने के कारण किन्ही ग्रन्थों को प्रस्तुत करने का उन्हें समय ही न

मिला हो। यह भी हो सकता है कि किसी संकोच के कारण उनका गद्य अप्रकाशित ही पड़ा हो। फिर भी साहित्य के विद्यार्थी को उनकी सेवाओं का मूल्य-निर्धारण करने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में माखनलाल जी का उल्लेख केवल काव्यकार के रूप में ही किया है। फिर भी, इतना तो निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि वे किसी सीमा तक श्री राय कृष्ण-दास और श्री वियोगी हरि की ही श्रेणी में हैं।

शैलीकार की दृष्टि से माखनलाल जी का महत्व अवश्य है। अपने साहित्यिक निबन्धों में वे मुख्य रूप से भावात्मक शैली के लेखकों में हैं। उनके लेख 'साहित्य देवता' में उनके इस भावात्मक गद्य का स्वरूप देखने को मिलता है। साहित्य आदि ऐसे विषय हैं जो शुद्ध ज्ञान की कोटि में आते हैं। उनका विवेचन बहुत कुछ तर्कयुक्त और बुद्धिसंगत ढंग पर होना वांछनीय होता है। भावना के क्षेत्र में लाकर उसका स्वरूप वर्णन करना अधिक बुद्धिग्राह्य नहीं होता। इस प्रकार उसके प्रकृत स्वरूप पर कहीं-कहीं अस्पष्टता की काली छाया पड़ती दिखाई देती है। माखनलाल जी भी इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। यथा—"विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग दर्शक बना, तुम्हीं न, कपास के तंतुओं से भी झीने तार खींच कर आचार ही की तरह, विचार के जगत में पांचाली की लाज बचाने आए हो।"

परन्तु यह स्पष्टता सभी जगह नहीं है। कहीं-कहीं अपनी भावुकतापूर्ण शैली में लेखक ने साहित्य-देवता से सुबोध और बुद्धिगम्य स्वरूप भी दिए हैं। यथा—"व्यास का कृष्ण, और

वाल्मीकि का राम, किसके पंखों पर चढ़ कर, हज़ारों वर्षों की छाती छेदते हुए, आज लोगों के हृदयों पर विराज रहे हैं? वे चाहे कागज के बने हों, चाहे भोज पत्रों के वे पंख तो तुम्हारे ही थे।"

साथ ही साथ उनकी शैली में एक सांकेतिकता भी मिलती है, परन्तु वे संकेत कहीं भी अस्पष्ट या दुरूह नहीं है। यथा—"तुम अनन्त जाग्रत आत्माओं के ऊँचे पर गहरे स्वप्न जो हो!.........तुम, कल्पनाओं के मंदिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिन्दुओं के संग्रह।"

ऊपर यह बताया जा चुका है कि माखनलाल जी एक प्रसिद्ध भावुक व्याख्यानदाता हैं। अतः एक व्याख्यानदाता के भाषण में जो प्रवाह और विषय की अनेक प्रकार की विवृत्ति और स्वरूप कथन मिलते हैं, वे इनके लेखों में बराबर पाए जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक बैठ कर संयत भाव से कोई निबन्ध नहीं लिख रहा है अपितु एक भाषण दे रहा है। यथा—"नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरने वाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ में, और उससे निकलने वाली लहरों की कुरबानी से हरियाली लेने वाली भूमि में, लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलाम्बर महासागरों में, और उनकी लहरों को चीर कर गरीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए दौड़ने वाले जहाजों के झुंडों में, तुम्हीं लिखे दीखते हो।"

अपनी इन शैलीगत विशेषताओं के कारण माखनलाल जी हिन्दी में एक प्रतिष्ठित स्थान के अधिकारी हैं।

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक हैं। रूढ़ियों पर उन्होंने कठिन प्रहार किये हैं। किसी सरल, स्वच्छ, आकर्षक जीवन की खोज में वह निरत हैं। किन्तु शायद उन्हें इस अँधियारे में अपना पथ स्पष्ट नहीं सूझता। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है, "मन में एक गाँठ सी पड़ जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिये, कुछ करना चाहिये। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है, समाज गलत है, जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ ? वह क्या है जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है ?"

जैनेन्द्र के इन शब्दों से हमें उनके व्यक्तित्व का भी कुछ आभास हो जाता है तथा उनके उस साहित्य का भी जो उनके समस्त साहित्य में अन्तर्हित है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक कलाकार की आंशिक तटस्थता है। पर वह इसी सीमा तक कि अपने उपन्यासों और कहानियों में वे पात्रों को मुक्त रूप से बोलने देते हैं, सब कुछ स्वयं ही नहीं कहते, परन्तु फिर भी जैनेन्द्र के प्रत्येक पात्र के पीछे उनका सबल व्यक्तित्व छिपा है।

उन्होंने स्वयं लिखा है—"पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठकों को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। जैसे सृष्टि ईश्वर को छिपाये है, वैसे मैं भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा हुआ हूँ।"

गद्य लेखक के रूप में जैनेन्द्र की एक बड़ी विशेषता उनके विचारों की मौलिकता है। समाज की परम्परागत मान्यताओं पर उन्होंने इतने कठिन प्रहार किये हैं कि सामान्य पाठक तिल-मिला उठता है। जैनेन्द्र के लिए विश्वास और श्रद्धा का जीवन में कोई स्थान नहीं है। वे हिन्दी में सम्पूर्णतः बुद्धिवादी लेखक हैं। तर्क के आधार पर जो ग्राह्य नहीं है, उसे मानने के लिये वे कदापि तैयार नहीं हैं। अतः उनकी कहानियाँ और उपन्यासों में जो गद्य मिलता है उसमें न किसी प्रकार की भावुकता है और न काव्यात्मकता। शैली में कहीं भी किसी प्रकार के अलंकरण का प्रयास नहीं है। बहुत ही ठोस बुद्धिवादी होने के कारण उनकी भाषा पर भी इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

साहित्य के विद्यार्थी यह बराबर अनुभव करते हैं कि जैनेन्द्र का यह अनोखा और कुछ कुछ अहंमन्यतापूर्ण व्यक्तित्व उनकी भाषा में भी झलकता है। यथा "उपन्यास दो एक मेरे नाम पर भी हैं उनके पात्र टाईप हैं कि व्यक्ति ? किसी आलो-चक से इस बारे में प्रकाश मिले तो मैं कृतज्ञ होऊँ। क्योंकि मैं ठीक तरह जानता नहीं हूँ। वे पात्र गर्भ में कैसे आये, किस प्रकार जन्मे और जैसे जिये वैसे किन कारणों से जिये, इस

विषय में मेरे मन में आस तो है, बोध नहीं है। जनक हूँ तो क्या, उनका जानकार मैं नहीं हूँ।"

जैनेन्द्र गाँधीवादी प्रभाव में बहुत अधिक आये हैं। अतः दीन और दलित समाज के लिये उनके मन में एक कोमल करुणा की भावना है। और यही कारण है कि अत्याचार पीड़ितों के प्रति सकरुण होते हुये भी वे अत्याचारियों पर किसी प्रकार का व्यङ्ग या कटाक्ष नहीं करते।

जैनेन्द्र के साहित्य ने हिन्दी में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उनके कहानी संग्रह "वातायन" "एक रात" तथा "नीलम देश की राज कन्या" बड़े उत्साह से पढ़े जाते हैं। उनके उपन्यास "परख" "सुनीता" "त्यागपत्र" एवं "कल्यानी" ने विद्वान् आलोचकों का ध्यान भी आकर्षित किया है। उनके निबन्धों का संग्रह 'जड़ की बात' हिन्दी का एक मानी हुई पुस्तक है।

महादेवी

सुश्री महादेवी वर्मा को पाकर हिन्दी साहित्य धन्य है। मीराँ से उनकी तुलना की गई है और दोनों के तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों के द्वारा कितने ही लेखों में प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु मीराँ की इस समकक्षता के अतिरिक्त भी महादेवी के साहित्य में अनेक ऐसे गुण और विशेषताएँ हैं जो चिरकाल तक उनकी स्मृति को हिन्दी में जीवित रखेंगे।

स्वभाव से अत्यन्त संयत और गम्भीर, अपने व्यक्तित्व को समेटे हुई सी, नारी की सामान्य प्रवृत्तियों से कुछ तटस्थ और उदासीन, पर एक बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व लिए हुए यह नारी हिन्दी साहित्य में अपना एक स्थायी स्थान बना चुकी है। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उन्होंने आलोचकों के कटु प्रहार और तिरस्कार सहे, समाज की यत्किंचित् अवमानना भी झेली, पर समुद्र-तट पर पड़ी चट्टान की भाँति ही इनका व्यक्तित्व और भी धुला और निखरा।

छायावादी काव्य की सृष्टि और उसके स्वरूप का निरूपण करने में महादेवीजी काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। छायावादी या रहस्यवादी काव्य की सृष्टि हिन्दी के और भी कवियों ने की। पर उस मार्ग पर आदि से अन्त तक कोई न चल सका। प्रसाद 'आँसू' और 'लहर' लिखकर स्वानुभूति निरूपिणी कविताओं से विमुख होकर वाह्यार्थ-प्रधान 'कमायनी' की रचना में प्रवृत्त हुए, पन्त ने अपना मार्ग बदला, निरालाजी रहस्यवादी

से प्रगतिवादी बने, परन्तु महादेवीजी अपने मार्ग पर अचल और अडिग हैं। यद्यपि बंगाल के दुर्भिक्ष को लेकर उन्होंने अपने प्रकृत-पथ से हटकर कुछ कविताएँ लिखीं, परन्तु उनका यह मार्ग-त्याग अल्पकालीन और क्षणिक था। आज, निस्सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि छायावाद या रहस्यवाद के क्षेत्र में वे एकाकिनी ही काव्य-साधना कर रही हैं। युग की बदलती हुई भावनाओं और परिस्थितियों के साथ उनकी काव्य प्रवृत्ति का समन्वय चाहे न किया जा सके या उसे करने में कुछ कठिनाई हो, फिर भी महादेवीजी में अपने विश्वासों की पूरी पूरी दृढ़ता है। यदि काव्य का उद्देश्य और कार्य कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से जगत का चित्रण है तो हमें कवि के दृढ़ व्यक्तित्व पर आस्था रखनी ही पड़ेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवीजी में व्यक्तित्व की यह दृढ़ता और सबलता पूरी पूरी है।

एक सफल कवियित्री होने के साथ-ही-साथ उनकी यह भी विशेषता है कि उन्होंने अपने भावों का प्रकाशन न केवल लेखनी की सहायता से अपितु तूलिका की सहायता से भी किया है। अपने भावों को शब्दों के द्वारा साकार करने के साथ-ही-साथ उन्होंने चित्रों के द्वारा भी उन्हें साकार और शरीर किया है। शब्द-चयन में उनकी समता संभवतः हिन्दी का कोई भी कवि नहीं कर सकता।

परन्तु केवल काव्य के क्षेत्र में नहीं अपितु गद्य के क्षेत्र में भी महादेवीजी का एक सम्माननीय स्थान है। अपने काव्य संग्रहों की भूमिकाओं में तथा अपने गद्य-ग्रन्थों 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'शृंखला की कड़ियाँ' में इन्होंने एक श्रेष्ठ गद्य लेखक के रूप में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश

किया है। इन काव्य-ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ तथा गद्य-ग्रन्थों को देखने से शैलीकार के रूप में महादेवी जी की तीन स्थितियाँ हमें मिलती हैं। अपनी प्रस्तावनाओं में उन्होंने बड़ा ही गम्भीर, विश्लेषणात्मक तथा तर्क समन्वित गद्य लिखा है। उनका एक एक वाक्य एक विचार खंड को लिये चलता है जो स्वतः पूर्ण है। परन्तु अपने गद्य-ग्रन्थों में उन्होंने अधिकतर चित्रात्मक शैली को अपनाया है। जीवन की सामान्य और साधारण वस्तुओं और पदार्थों के चित्रण में यदि सफल रेखाचित्र हिन्दी के किसी लेखक ने खींचे हैं, तो वे महादेवीजी ही हैं। इनके एक रेखाचित्र का उदाहरण नीचे दिया जाता है—"दूध से सफेद बाल और दूध फेनी सी सफेद दाढ़ीवाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो रहा था। कभी की सतेज आँखें आज ऐसी लग रही थीं मानों किसी ने चमकीले दर्पण पर फूँक मार दी हो। एक क्षण में ही उन्हें धवल सिर से लेकर धूल भरे पैरों तक, कुछ पुरानी काली चप्पलों से लेकर पसीने और मैल की एक बहुत पतली कोर से युक्त खादी की धुली टोपी तक देखकर कहा "

इनके गद्य में काव्यात्मकता भी पूरी पूरी रहती है। कहीं-कहीं गद्य में भी प्रकृति का वर्णन इस सज-धज से किया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों काव्य की ही कुछ पंक्तियों का अन्वय करके रख दिया गया हो। यथा—"विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाए हुए सूर्य के सोने के शब्द-वेधी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे थे।"

परन्तु शैली की इस चित्रात्मकता एवं काव्यात्मकता के साथ ही जब दीनों और दुखियों की दशा देखकर उनका हृदय भर

जाता है तो कहीं-कहीं धर्म और समाज की नैतिकता के ठेकेदारों पर व्यंग्य भी हैं और कहीं-कहीं कुछ उग्र शब्दों में उनकी निन्दा भी। ऐसे स्थानों पर शैली व्यंग्यात्मक तथा कुछ ओजमयी हो गई है। समाज में कवि की स्थिति पर एक व्यंग्य देखिए—"मैं तो कोई डाक्टर या वैद्य नहीं हूँ और मुंडन, कनछेदन आदि में कवि को बुलाने वाले लोग अभी उसे गाता-वाचक के समान अन्तिम समय में बुलाना नहीं सीखे हैं।" इनके व्यंग्य का एक दूसरा सुन्दर उदाहरण भी देने योग्य है 'जिस लड़के का पुरुषार्थ ऐसी परिश्रमी और सुशीलवधू खरीद लाया है, उसे नालायक मानना घोर अन्याय है। स्त्री की प्राप्ति और सन्तान की सृष्टि ही पुरुष की लियाकत का लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँच जाने वाला पुरुष और अधिक योग्यता का बोझ व्यर्थ ही क्यों ढोता फिरे।"

इसी प्रकार जब किसी अन्याय और अत्याचार से इनका हृदय तिलमिला उठता है, तो जो कुछ लिखती हैं उसमें एक ओज और प्रवाह रहता है। ऐसे स्थानों पर भाषा का अलंकरण और चित्रात्मकता विदा हो जाते हैं। यथा—"जो समाज इन्हें, वीरता, साहस और त्याग भरे मातृत्व के साथ नहीं स्वीकार कर सकता क्या वह इनको कायरता और दैन्य भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा? युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिए नहीं सहन-शक्ति के लिए ही दंड देता आ रहा है।"

महादेवीजी की भाषा—चित्रात्मक और काव्यात्मक गद्य में संस्कृत की ओर बहुत अधिक झुकी हुई है। परन्तु जहाँ उनका गद्य सचेष्ट कलाकार की कृति नहीं है, वहाँ भाषा अपेक्षाकृत सरल और सुबोध है।

गुलाब राय

हिन्दी की एक दीर्घकाल से सेवा करने वालों में वयोवृद्ध बाबू गुलाब राय बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अनेक विषयों पर छोटी-मोटी अनेकों पुस्तकें तथा सैकड़ों लेख लिखे हैं। उनके द्वारा रचे हुए साहित्य में एक बड़ा भाग स्थायी और कालक्षम है। कुछ भाग ऐसा भी है जो केवल परीक्षार्थियों को दृष्टि पथ में रख कर लिखा गया है और जिसे हम केवल समयोपयोगी ही कह सकते हैं। फिर भी इतना तो निसंदेह कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में साहित्य-सेवा ही इनके जीवन का लक्ष्य रहा है, और संभवतः रहेगा। हिन्दी के विद्वान् और पाठक तथा विद्यार्थी श्री गुलाब राय जी से एक कर्मठ साहित्यकार के रूप में परिचित हैं। इनके ग्रन्थ कितने महत्व के होते हैं तथा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में उनसे कितनी सहायता मिलती है, इसका अनुमान इनके ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' पर हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा की निम्न लिखित सम्मति से ही हो सकेगा। वे लिखते हैं—' श्री गुलाबराय कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' शीर्षक ग्रन्थ का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। हिन्दी में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक पूर्ण परिश्रम और सावधानी के साथ लिखी गई है। विद्वान् लेखक ने इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक जटिल प्रश्नों को अपनी सुबोध शैली में सफलता के साथ समझा कर रख दिया है। ऊँची

कक्षाओं के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए ग्रन्थ विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, यों साहित्य के गम्भीर अध्ययन की अभिरुचि रखने वाला प्रत्येक पाठक इससे लाभ उठा सकता है।" इसी प्रकार इनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्य के रूप' पर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉक्टर अमरनाथ झा ने भी बड़ी ही प्रशंसापूर्ण सम्मति दी है। इस प्रकार यह बात स्पष्टतः सिद्ध हो जाती है कि गुलाबराय जी साहित्य के माने हुए विद्वान् हैं।

साहित्य के साथ-ही-साथ ये दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के भी माने हुए विद्वान् हैं। 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' तथा 'तर्क शास्त्र' इनके बड़ी ही उत्तम कोटि के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को देखने मे ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की मनोवृत्ति कितनी गम्भीर है, उसका अध्ययन कितना विस्तृत है तथा जटिल विषयों में भी उसकी कितनी सहज गति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने साहित्यिक लेखों और पुस्तकों में भी लेखक ने सर्वत्र इसी गम्भीरता का परिचय दिया है। हिन्दी के दार्शनिक विषयों के लेखकों में भी गुलाबराय जी का सम्मान-नीय स्थान है।

परन्तु लेखक में इतनी गम्भीरता होते हुए भी उसमें मनो-विनोद की काफी मात्रा है। सभवतः परमात्मा ने इन्हें यह गुण गम्भारता के भार से क्षणिक मुक्ति और विश्राम प्राप्त करने के लिए ही दिया है। 'ठलुआ क्लब' और 'अपनी आत्मकथा' में इन्होंने अपनी इस विनोदी वृत्ति का अच्छा परिचय दिया है। इनके हास्य के सम्बन्ध में एक स्मरणीय बात यह है कि उसमें कहीं कटुता या तीक्ष्णता नहीं है। कई स्थानों पर तो लेखक

ने हास्य के लिए दूसरों को न चुन कर स्वयं अपने को ही चुना है।

गुलाब राय जी हिन्दी के दो युगों के लेखक हैं। द्विवेदी युग के आरम्भ में ही उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था। उस युग के साहित्यकारों और निबन्ध लेखकों में जो गुण अपेक्षित थे वे सब इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में मिलते हैं। हिन्दी में नए नए विषयों को लाने की तत्परता, विषय का सरल और सुबोध निरूपण, हिन्दी की व्यंजना-शक्ति के विस्तार की चेष्टा, हिन्दी की शब्दावली को सम्पन्न बनाने का प्रयत्न, व्याकरण तथा हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा निर्वाह आदि की ओर इनका पूरा-पूरा ध्यान दिखाई पड़ता है। ये हिन्दी की उन्नति में बड़ी तत्परता के साथ योग देते दिखाई पड़ते हैं।

सन् १६२० के पश्चात् उत्तर-द्विवेदी-युग में जब विश्वविद्यालयों की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी का प्रवेश हुआ राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप देश में एक नई चेतना आई राष्ट्र प्रेम के साथ ही-साथ राष्ट्र भाषा का महत्व बढ़ा और हिन्दी का उन्नति के लिए बड़े-बड़े समारम्भ हुए तो उनमें भी हम इनकी लेखनी को योग देते हुए देखते हैं। इस प्रकार लगभग पिछले ४० वर्ष से ये अनवरत रूप से हिन्दी साहित्य की सृष्टि के कार्य में लगे हैं।

अपनी पुस्तकों से भी बढ़ कर इन्होंने 'साहित्य सदेश' के द्वारा प्रसिद्धि पाई है। आगरे से प्रतिमास निकलने वाला यह साहित्य की आलोचना सम्बन्धी पत्र आज विद्यार्थियों, विद्वान् पाठकों और आलोचकों के बीच सर्व प्रसिद्ध है। दलबन्दी से दूर रह कर सभी प्रकार की विचार-धाराओं को प्रश्रय देने वाला यह पत्र अपने ढंग का अनूठा ही है। इस पत्र में यदि एक ओर

प्रगतिवादी आलोचनाएँ छपती हैं तो दूसरी ओर 'कला कला के लिए' वाली आलोचनाएँ भी सहर्ष छापी जाती हैं। उसमें खोज और अन्वेषण सम्बन्धी लेख भी रहते हैं, परन्तु थोड़े।

गुलाबराय जी मूलतः एक अध्यापक की भाँति सुबोध और सरल शैली में लिखते हैं। वाक्य छोटे, विराम चिन्हों का बड़ा ही समुचित प्रयोग, हिन्दी की प्रकृति की पूरी-पूरी रक्षा, भाषा कुछ संस्कृत की ओर झुकी हुई परन्तु अनावश्यक कठिनता से दूर. आवश्यकता के अनुसार उर्दू और अँग्रेजी शब्दों का युक्त रूप से प्रयोग. यही इनकी शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं। वाक्य इतने अर्थ गर्भित नहीं हैं कि पाठक को रुक कर बहुत ही मनन या चिन्तन करना पड़े। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ही दो भिन्न भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के परिचायक हैं। छायावाद कोमल और अन्तर्मुखी वृत्ति का और प्रगतिवाद कठोर और बहिर्मुखी वृत्ति का। प्रगतिवाद में भी राष्ट्रीय भावना है किन्तु उसमें शोषित के प्रति करुणा के साथ-साथ शोषक के प्रति उग्र घृणापूर्ण विद्रोह भी है।"

ऊपर का उद्धरण उनकी गम्भीर साहित्यिक शैली का नमूना है। इनकी चलती और हास्य पूर्ण शैली का नमूना यह है—

"ताजा व ताजा, नौ व नौ, गर्मागर्म प्रतिक्षण की टटकी खबर सुनने के अभ्यस्त नारद मुनि के अवतार-स्वरूप समाचार पत्रों के समुत्सुक पाठकों को जब सात-समुन्दर पार विलायत की भी एक डाक की पुरानी खबरें बासी और बेमजा लगती हैं तब

उनको आगरे की कई महीने की पुरानी बात सुनाना उनकी सुरुचि का अपमान करना ही नहीं है वरन् उनको 'ब्लैक होल' की यातना देना होगा।"

अतः हम देखते हैं कि हिन्दी के किसी भी विद्यार्थी के लिए यह परम आवश्यक है कि वह गुलाबराय जी के साहित्य का गम्भीरता से अध्ययन करे।

———

डाक्टर नगेन्द्र

हिन्दी के वर्तमान आलोचकों में डा० नगेन्द्र का एक महत्व-पूर्ण स्थान है। हिन्दी वर्तमान काव्य को समझने और समझाने का उन्होंने अच्छा प्रयत्न किया है। छायावादी काव्य की कटु निन्दाओं के पश्चात् जब उसका स्वरूप थोड़ा बहुत समझा जाने लगा और उसकी कुछ प्रशंसात्मक आलोचनाएँ निकलने लगीं तो हिन्दी के विद्वानों और पाठकों की यह बड़ी प्रबल इच्छा थी कि इन छायावादी कवियों पर कोई ऐसी ठिकाने की पुस्तक निकले जिसमें किसी छायावादी कवि का कुछ सांगोपांग विवेचन हो। यह काम हिन्दी में डा० नगेन्द्र के द्वारा ही हुआ।

डा० नगेन्द्र स्वयं भी एक बड़ा ही तत्पर और समवेदना-शील अनुभूति वाले कवि हैं। अतः एक ओर जहाँ उनके कवि हृदय ने दूसरे कवि हृदय को समझने में सहायता दी वहाँ बुद्धि और भावना के समुचित मिश्रण और अंग्रेजी आलोचनात्मक शैली के परिचय ने उन्हें एक अच्छे आलोचक बनने में सहायता दी।

नगेन्द्र की आलोचना-पद्धति में हमें निर्णयात्मक ढंग दिखाई नहीं पड़ता। कवि का विश्लेषण, उसकी मानसिक स्थिति का अध्ययन और सहानुभूतिमय ढँग से उसका प्रकाशन ही आलोचक नगेन्द्र की विशेषताएँ हैं। उन्होंने काव्य के महत्व को किन्हीं परम्परागत बाटों से नहीं तोला है। किसी भी काव्य में जो कुछ भी सुन्दर है उसी का एक ठिकाने के ढँग से वर्णन

इनकी आलोचनाओं में मिलेगा। आलोचक के रूप में नगेन्द्र विद्यार्थियों और विद्वानों दोनों के ही बीच में प्रिय हैं। यही कारण है कि एक ओर तो हिन्दी के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख बड़ी तत्परता और स्वागत के साथ छापे जाते हैं और दूसरी ओर विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत किये हुए संग्रह ग्रन्थों में भी बड़े चाव से इनके लेखों को स्थान दिया जाता है।

यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के वर्तमान साहित्य के आलोचकों में नगेन्द्र ही सर्वोपरि हैं। यह ठीक है कि आधुनिक साहित्य में बहुत कुछ ऐसी भी बातें हैं जो नगेन्द्र के संस्कार और रुचि के अनुकूल नहीं हैं। परन्तु नगेन्द्र या तो उस ओर से मौन रहे हैं, अथवा एक बहुत ही सुन्दर और साहित्यिक ढंग से उन्होंने उसका निराकरण कर दिया है। इस दृष्टि से नगेन्द्र का मार्ग बड़ा ही स्वच्छ और सरल है। वे कभी किसी व्यक्तिगत आक्षेप की दलदल में नहीं फँसे। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी जो मान्यताएँ हैं उनके प्रतिवाद करने वालों का उन्होंने कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रीति काल की भूमिका' और 'महाकवि देव' में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि वे प्राचीन साहित्य के भी अच्छे विद्वान् हैं। इस तरह उन्होंने इस प्रवाद का खंडन कर दिया है कि उन्होंने 'भारतीय साहित्य को पाश्चात्य दृष्टि से ही देखा है'। उनका यह अध्ययन सभी दृष्टियों से सम्पूर्ण है।

उन्होंने जो कुछ भी निष्कर्ष निकाले हैं हम उन सभी से सहमत हों यह आवश्यक नहीं है। किन्तु एक बात निर्विवाद है—वह यह कि डा० नगेन्द्र ने अपना जाल छिछले पानी में

नहीं डाला है, साहित्य की उदधि में से उन्होंने जो कुछ भी निकालने का प्रयत्न किया है, उसके लिये परिश्रम किया है, लगन दिखाई है और यथासंम्भव ईमानदारी से काम किया है। अपने "साहित्य और समीक्षा" शीर्षक निबन्ध में उन्होंने आलोचक की जो परिभाषा की है उसे ही उन्होंने चरितार्थ करने की चेष्टा की है।

उन्होंने लिखा है—"आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है। और आलोचना उस ग्रहीत रस को सर्व सुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्या कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतनी ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।"

नगेन्द्र की शैली परिमार्जित और सधी हुई है। उसमें न तो जैनेन्द्र जैसी बुद्धिवादी की शुष्कता है और न माखनलाल या वियोगी हरि जैसी भावुकता। वे संस्कृत की ओर झुकी हुई भाषा लिखते हैं। सम्भवतः यह साहित्य की आलोचना जैसे विषयों के लिये अनिवार्य ही है। यथा "एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से—अपने एक द्वेष को सर्वथा पृथक् रख कर वस्तु-गत चित्रण करना और तज्जन्य बौधिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण करना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का विशेषकर उसी व्यक्ति का जो अपनी ही, सृष्टि हो, चरित्र विश्लेषण करने में अपने राग द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है"। परन्तु जहाँ कोई साहित्य सम्बन्धी विवेचन करना लेखक को आवश्यक नहीं होता वहाँ उनकी भाषा और शैली साधारण बोलचाल के बहुत ही समीप होती है। यथा—"अब लोग थकने

लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिये मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्त्ता महोदय ने उठ कर कहा कि अब देर काफी हो गयी है इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने-अपने मन्तव्यों को सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपाल जी ही अपने विचार प्रगट करने का कष्ट करें।" नगेन्द्र अभी नवयुवक ही हैं परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा परिपक्व हो चली है। हमें आशा है कि वे हिन्दी साहित्य को कुछ बहुत ही अमूल्य वृत्तिय भेंट करेंगें।

———

संपूर्णानन्द

आधुनिक हिन्दी के गद्य-लेखकों में संपूर्णानन्दजी का भी एक प्रतिष्ठित स्थान है। यद्यपि सन् १६२१ के ही असहयोग आन्दोलन से अनेक राजनीतिक कार्यों और आन्दोलनों में सक्रिय तथा प्रमुख भाग लेते रहने के कारण, उन्हें साहित्य-सेवा के लिए अधिक समय नहीं मिला है, पर इस कार्य-व्यस्तता के बीच भी उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह स्तुत्य और प्रशंसनीय है। उनकी पुस्तकें और लेख संख्या में थोड़े हैं, परन्तु सारगर्भित और महत्वपूर्ण हैं।

काशी में जन्म लेने, संस्कृत के पण्डित होने और प्रबल राष्ट्रीयता के समर्थक होने के कारण, इन्हें स्वभावतया ही प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रति एक प्रेम या मोह है। फिर भी अनुदारता या संकुचित दृष्टिकोण इन्हें छू भी नहीं गए हैं। भारतीय संस्कृति को इन्होंने जिस रूप में देखा है और उसके जिस अंश की ये पुनः स्थापना चाहते हैं, वह अत्यन्त ही उदार और जीवन के उच्च महत्वों पर स्थिर हैं। संस्कृति और सभ्यता को यह एक परम्परा के रूप में मानते हैं। अतः इनका यह विचार है कि उसका प्राचीन रूप सर्वथा भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार एक नदी को बहती रहने के लिए स्थान स्थान पर नया जल तो चाहिए ही पर साथ ही उसका पूर्व रूप भी किसी न किसी रूप में बना ही रहना चाहिए; ठीक इसी प्रकार किसी भी देश की जीवित और जाग्रत संस्कृति

का रूप प्राचीन और नवीन के मणि-कांचन संयोग से ही संगठित होता है।

यही कारण है कि हम सम्पूर्णानन्दजी में जहाँ एक ओर प्राचीन सभ्यता के कुछ अंशों की ओर आस्था देखते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे आज की सबसे नवीन विचारधारा-समाजवाद-से भी पूर्णतया प्रभावित हैं। इन्होंने समाज पर भी लिखा है और उसके माने हुए पण्डित हैं। प्राचीन और नवीन का यह सम्मिश्रण ही इनके व्यक्तित्व का सौन्दर्य है।

प्राचीन सभ्यता को समाजवाद में किस प्रकार मिलाया जाय, आधुनिक युग के अनुरूप किस प्रकार एक नई संस्कृति का निर्माण किया जाय, यही चिन्तना उनके अनेक लेखों का विषय है।

ये इतिहास के भी माने हुए पंडित हैं। भारतीय इतिहास पर इन्होंने लिखा भी है। परन्तु इतिहासकार के रूप में ये केवल कथा कहने वाले नहीं हैं। एक इतिहासकार में जिस विश्लेषणात्मक प्रतिभा और निष्पक्ष बुद्धि की आवश्यकता है, वह इनमें प्रभूत मात्रा में मिलती है। यह ठीक है कि अपने इतिहास-लेखन के कार्य में ये अनेक स्थानों पर भारतीय सभ्यता के महत्वों पर मुग्ध हुए हैं और इससे शैली में कुछ प्रसादात्मकता भी आ गई है, फिर भी इनकी निरपेक्ष दृष्टि कहीं मंद नहीं हुई है।

यह बताया जा चुका है कि सम्पूर्णानन्दजी लगभग पिछले ३० वर्षों से देश की सक्रिय राजनीति में भाग लेते रहे हैं। अतः उन्हें व्याख्यान मंचों तथा सभा-सोसाइटियों में बोलने का विशद अभ्यास है। यही कारण है कि उनकी शैली में एक

व्याख्यान दाता का सा ओज और प्रवाह है। किसी विषय का समर्थन या निराकरण करने के लिए वे तर्कों और प्रमाणों का एक ढेर लगा सकते हैं। वे पाठक को मुग्ध भी कर सकते हैं और विरक्त भी।

परन्तु इतना होते हुए भी उनकी वाणी में पूरा संयम है। जब वे किसी शास्त्रीय विषय का विवेचन करते हैं तो पूरी पूरी गम्भीरता भी उनकी शैली में स्वतः ही आ जाती है। यथा—"जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।"

एवं—"जब तक आत्म साक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज भी जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति—यही मनुष्य का पुरुषार्थ. उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।"

भाषा की दृष्टि से इनका झुकाव अधिकतर संस्कृत की ओर ही है। हिन्दी में शास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन के लिए हमें संस्कृत का सहारा लेना ही पड़ेगा, ऐसी इनकी मान्यता है। यह इस मत के मानने वाले नहीं हैं कि प्रचलित हिन्दुस्तानी भाषा को अधिक समृद्ध बनाया जा सकता है। फिर भी संस्कृत का प्रेम इनका एक सिद्धान्त पर निर्भर है। उसमें कोई मोह या पक्षपात नहीं है। अतः इनकी संस्कृत प्रधान भाषा पंडितों की उस संस्कृत प्रधान भाषा से बहुत भिन्न है जिसमें बोलचाल के शब्दों को कान पकड़ कर बाहर निकाला जाता है।

इनके लिखे ग्रन्थों में अन्तर्राष्ट्रीय विधान, समाजवाद, व्यक्ति और राज, आर्यों का आदि देश, श्री गणेश बहुत प्रसिद्ध हैं। स्वर्गीय पीतांबर दत्त बड़थवाल के कुछ लेखों का सम्पादन भी इन्होंने 'हिन्दी कविता में योग प्रवाह' के नाम से किया है।

———

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारी प्रसाद जी हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक, विद्वान् और गम्भीर विषयों के लेखक हैं। इनकी प्रिय विषय साहित्यिक पुरातत्व है। संस्कृत साहित्य के ये प्रकाण्ड विद्वान् हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अनेक अंगों और उपांगों का इन्होंने बड़ा ही गम्भीर एवं आलोचनात्मक अध्ययन किया है। 'प्राचीन भारत का कला-विलास' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक उनके ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत का अध्ययन कितने मनन और गम्भीरता से किया है। विशेष रूप से 'बाणभट्ट की 'आत्मकथा' नामक ग्रन्थ में तो उन्होंने संस्कृत के जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिए हैं, उन पर दृष्टि डालने से ही पता चल जाना है कि उनका अध्ययन कितना विशद और व्यापक है।

यह हिन्दी का परम सौभाग्य ही समझना चाहिए कि द्विवेदी जैसा संस्कृत का प्रकाण्ड पंडित उसे प्राप्त हुआ है। ये काशी विश्वविद्यालय के साहित्याचार्य तथा ज्योतिषाचार्य हैं। एक स्कूल में एक सामान्य अध्यापक के पद से उठा कर शान्ति-निकेतन में खोज के वातावरण में इन्हें ले जाकर बैठाने का श्रेय श्री क्षितिमोहन सेन को है। वहाँ इन्हें अध्ययन की सुविधाएँ मिलीं और हिन्दी को एक विद्वान् के रूप में एक जगमगाता रत्न।

यदि हिन्दी को समझने के लिए संस्कृत ज्ञान की आवश्यकता है, तो हिन्दी के हितैषियों को श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् की सदा आवश्यकता रहेगी। कहना चाहें तो सरलता से कह सकते हैं कि स्वर्गीय चन्द्रधर गुलेरी के पश्चात् हिन्दी को इतना बड़ा संस्कृत का विद्वान् प्राप्त नहीं हुआ।

परन्तु द्विवेदी जी की संस्कृत-प्रियता केवल अध्ययन तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने लिखा भी बहुत कुछ है। सूर-साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर एवं 'नाथ पंथ' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। बिना किसी संकोच या संदेह के यह कहा जा सकता है कि बहुत समय तक ये ग्रन्थ हिन्दी के विद्वानों, विद्यार्थियों और जिज्ञासु अन्वेषकों को कोश का सा काम देंगे। इन विषयों पर लिखने वाला भविष्य का कोई भी लेखक इन ग्रन्थों की उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

इन ग्रन्थों को देखने मात्र से पता चल जाता है कि द्विवेदी जी में एक सच्चे अन्वेषक के सभी गुण हैं। सारी सामग्री और तर्क उपस्थित करने के उपरान्त भी वे निरपेक्ष से रहते हैं। सत्य के आग्रह से जिस निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक है, उसी पर ये पहुँचते हुए दिखाई पड़ते हैं। कहीं भी अपने आग्रहों और मान्यताओं को बरबस स्थापित करने की इन्होंने चेष्टा नहीं की है। साहित्य के अन्वेषक के रूप में उनको यह निरपेक्षता तथा आग्रह-शून्यता उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों पर या उनके नायकों पर लिखते समय भी उनकी समदृष्टि रही है। यदि हिन्दी साहित्य में उन्हें कहीं भी कोई विदेशी तत्व या प्रभाव मिला है, तो उसे उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

उनमें अध्यवसायशीलता कितनी अधिक है और चिन्तन कितना स्पष्ट है, इसका आभास उनके ग्रन्थ 'नाथ पंथ' को देखने से ही हो जाता है। भारत में अनेक मतमतांतर कितने उलझे हुए हैं, उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ कैसे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, तथा उनका प्रतिपादन उनके आचार्यों के द्वारा कैसे-कैसे और किस-किस रूप में हुआ है, उसे देखकर भी सामान्य विद्वान् या पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। परन्तु नाथ पंथ पर मिलने वाली अनंत सामग्री को जो अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों और लोकगाथाओं के बीच बिखरी पड़ी है, उसे एकत्र कर, नाथ पंथ का एक सहज तथा तर्क-युक्त रूप प्रस्तुत कर देना द्विवेदी जी जैसे विद्वान् का ही काम है। यह सरलता से कहा जा सकता है कि अभी हिन्दी में कई दशाब्दों तक ऐसा ग्रन्थ नहीं निकल सकेगा।

प्राचीन साहित्य के साथ ही साथ हिन्दी के नए साहित्य का भी उन्हें अच्छा ज्ञान है। वे कितने ही वर्षों तक विशाल भारत में हिन्दी में नवीन प्रकाशनों की आलोचना और चर्चा करते रहे हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वे केवल प्राचीनतावादी पंडित हैं। हिन्दी का नया साहित्य किस ओर जा रहा है, इसका इन्हें सम्यक् ज्ञान है। फिर भी इतना स्वीकार करना अवश्य पड़ेगा कि द्विवेदी मुख्य रूप से संस्कृति और धर्म के विद्वान् हैं। साहित्यिक आलोचना का जैसा रूप हमें शुक्लजी में मिलता है, द्विवेदीजी उससे दूर हैं।

द्विवेदी गम्भीर लेखक हैं। वे अधिकतर शास्त्रीय विषयों पर ही लिखते हैं। इनकी शैली आचार्य शुक्ल की शैली के बहुत समीप की वस्तु जान पड़ती है। फिर भी अँग्रेजी साहित्य के विशाल अध्ययन के फलस्वरूप शुक्ल जी की शैली में जो संक्षिप्तता

हैं, वह इनकी शैली में दिखाई नहीं पड़ती। इन्होंने अपनी शैली का अधिकतर व्याख्यात्मक रूप ही दिया है। यथा — 'कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी वास्तव में मुसलमान नहीं थे, वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे।"

इस वाक्य को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की समन्वय मूलक भावना को ही लेखक कुछ विस्तार से व्याख्यानात्मक ढंग से कह रहा है।

इनकी भाषा का झुकाव भी संस्कृत की ही ओर है परन्तु अतिशय कठिन शब्दों का प्रयोग यथाशक्ति बचाया गया है, यदि एक ही अर्थ के व्यंजक संस्कृत के दो शब्द मिलते हैं तो विस्तार के लिए इन्होंने न तो दोनों शब्दों का ही प्रयोग किया है और न पांडित्य प्रदर्शन के लिए कठिन शब्दों का। उर्दू के भी कुछ बोलचाल के सामान्य शब्द इनके लेखों में मिलते हैं। विदेशी शब्दों को इन्होंने उनके शुद्ध रूप में ही लिखा है।